समीक्षण ध्यान :
एक
मनोविज्ञान



व्याख्याता
आचार्य श्री नानेश



आकलन-सम्पादन
शान्ति मुनि



□ पुस्तक : समीक्षण ध्यान : एक मनोविज्ञान

□ व्याख्याता आचार्य श्री नानेश

□ आकलन-सम्पादन : श्री शान्ति मुनि

□ प्रथम अनावरण : १९८७

□ प्रकाशक . श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ,
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर-३३४ ००१

□ मूल्य : ३५)०० रु०

□ मुद्रक : फ्रैण्ड्स प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर-३०२ ००३

प्रकाशकीय

साधुत्व की पावन धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बड़े-बडे आचार्यो ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक धरातल पर क्रांति का प्रसंग आया है, जिसका उद्देश्य श्रमण सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का रहा है। ऐसी क्रान्ति धारा में क्रियोद्धारक महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म० सा० का नाम विशेष रूप से उभरकर सामने आता है। तत्कालीन युग में जहाँ शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। बड़े-बड़े साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो मे अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलो के पीछे साधुता बिखरती जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म० सा० ने उपदेशो से नही, अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृष्ट सयममय जीवन से जनमानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा सयमी ही नही थे वरन् श्रमण-सस्कृति के गहरे अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण-सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहते थे। "तिन्नाण तारयाण" के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया और जो देशव्रती बनना चाहते थे, उन्हे देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहाँ से फिर साधुमार्ग मे क्राति घटित हुई, जो पश्चात्वर्ती आचार्यो से निरन्तर आगे बढी।

हमे बडी प्रसन्नता है कि इसी परम्परा के अष्टम आचार्य समता विभूति, विद्वत् शिरोमणि, जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म० सा० के सान्निध्य की आज हमे प्राप्ति हुई है। आचार्य श्री का व्यक्तित्व एव कर्तृत्व अनूठा व महनीय है। आचार्य प्रवर ने अपने आचार्य पद के २५ वर्षो की अवधि मे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये है। साधुमार्गी श्रमण सघ को निरन्तर विकसित कर उसे रत्नमय की साधना से सजाया-सँवारा और निखारा है। सत्-साहित्य के माध्यम से भी आपने बहुविध विधाओ से जन-मन को प्रेरणा दी है एव दिशा-निर्देश किया है।

शान्त क्राति के अग्रदूत स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म० सा० की स्मृति मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार मे अनेकानेक प्रकाशित एवं हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह हुआ है। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो का सचयन कर उन्हे श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशित कर रही है। इसी संकल्प की क्रियान्विति मे इस कृति को श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर आचार्य प्रवर श्री नानेश के आचार्य पद के २५ वे वर्ष के उपलक्ष्य मे प्रकाशित करने मे सघ हार्दिक सन्तुष्टि का अनुभव कर रहा है।

प्रस्तुत कृति **'समीक्षण ध्यान—एक मनोविज्ञान'** मे आचार्य श्री नानेश के समीक्षण ध्यान सम्बन्धी १३ प्रवचन सकलित है। आज विज्ञान और तकनीकी विकास जिस द्रुतगति से हुआ है, हो रहा है, उससे जहाँ देश-काल सम्बन्धी दूरिया कम हुई है वहाँ मानव-मानव के बीच मन की दूरिया अत्यधिक बढ गई है। व्यक्ति बाहर और भीतर से एक रूप नही हो पाता। परिणामस्वरूप वह अधिक बेचैन, व्यग्र और अशांत है। वह बाहरी जगत् के विविध दृश्यो/परिवर्तनो को तो देखता है, पर अन्त-र्जगत् को देख नही पाता। समीक्षण ध्यान अन्तर्जगत् को देखने की मनो-वैज्ञानिक विधि है। इस कृति मे इसी मनोविज्ञान को सहज और सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके लिए संघ आचार्य श्री के प्रति अनन्त श्रद्धा समर्पित करता है।

आचार्य श्री के मुखारबिन्द से प्रस्फुटित होने वाली अभिव्यक्ति को उनके अन्तेवासी शिष्य पंडित रत्न श्री शान्ति मुनिजी ने प्रस्तुत कृति के रूप में सकलित सम्पादित किया है, सघ उनके प्रति विशेष आभारी है।

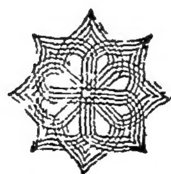
इस कृति के प्रकाशन-सम्बन्धित प्रवन्धन-सम्पादन में डॉ० नरेन्द्र भानावत ने जो महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है, तदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं।

आशा है, यह कृति अन्तर्जगत् की यात्रा में हमारे लिए पाथेय का काम करेगी।

चुन्नीलाल मेहता	धनराज बेताला	गुमानमल चोरड़िया
अध्यक्ष	मन्त्री	संयोजक, साहित्य-समिति

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अनुक्रमणिका



अन्तर्दर्शन

एक महात्मा किसी सम्राट् के महलो में पहुँच गये । सम्राट् स्वय भी धर्म रुचि और साधु-भक्त व्यक्ति था । उसने महात्मा का भावभीना स्वागत किया । महात्मा ने अपनी अमृत देशना के द्वारा सम्राट् को बहुत खुश कर दिया । सम्राट् ने आत्मविभोर कर देने वाली वाणी श्रवण कर कृतार्थता अनुभव की । साथ ही मणि—माणिक्य-मोतियो से भरा थाल महात्मा के समक्ष उपस्थित कर निवेदन किया—"महात्मन् ! यह तुच्छ भेट स्वीकार करिये ।"

महात्मा ने थाल मे से एक हीरा उठाया और नाक के पास ले जाकर सू घा और इस प्रकार झटके से वापस थाल मे डाल दिया कि जैसे उसमे से बहुत बुरी दुर्गन्ध आ रही हो । इसी प्रकार एक और मोती उठाया और वैसे ही डाल दिया । दो-चार बहुमूल्य मणियाँ उठाई और डाल दी । अन्त मे सम्राट् की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—"राजन् ! मैने तुम्हे भगवान की भवतापहारिणी अमृत वाणी सुनाई और तुम उसके बदले में मुझे दुर्गन्धमय वस्तु भेट करना चाहते हो । क्या यह उचित है ?"

सम्राट् ही नही, वहाँ जितने कर्मचारी खडे थे, सभी महात्मा के व्यवहार एव प्रश्न को देख-सुनकर आश्चर्यचकित थे । राजा कहने लगा—"महात्मन् ! आप कैसी बात कर रहे है, हीरे, पन्ने एव मोतियो मे भी कही दुर्गन्ध आती है । यदि ऐसा होता तो महिलाएँ इन्हे अपने नाक पर ही क्यो लगाती ? आप ऐसी अजीब बात कर रहे है, जो हमारी समझ से परे है । हम इतने लोगो को तो इनमें कोई दुर्गन्ध नही आ रही है ।"

महात्मा कहने लगे—"राजन् ! तुम्हे भले ही दुर्गन्ध नही आती हो, मुझे तो इनमे भारी दुर्गन्ध आ रही है । मै ऐसी दुर्गन्धतम वस्तु कैसे स्वीकार कर सकता हूँ ?"

"महात्मन् ! बात कुछ स्पष्ट करके समझाइये ?" सम्राट् ने जिज्ञासा व्यक्त की ।

महात्मा ने कहा—"तुम मेरे साथ चलो, मै तुम्हे स्पष्ट करके समझा देता हूँ ।" और महात्मा सम्राट् एवं अन्य कर्मचारियो को लेकर महलो के बाहर आ गये । शहर के राज मार्ग को पार करते हुए महात्मा शहर के

वाहर वस्ती की ओर वढ़ गये। सम्राट् एवं कर्मचारी भी महात्मा का पदानुकरण करते हुए चले जा रहे थे। महात्मा चर्मकारों की एक वस्ती में चले गये, जहाँ चर्मकार अपने कार्य मे व्यस्त थे, कोई चमड़े को छील रहा था, कोई उस पर रंग चढ़ा रहा था, कोई गला रहा था तो कोई धुलाई कर रहा था। वहाँ के समस्त वायुमण्डल मे चमडे की गन्ध व्याप्त थी।

महात्मा उस वस्ती में घूमने लगे तो सम्राट् कहने लगा—"महात्मन्! यहाँ से शीघ्र वाहर निकलिये। इतने दुर्गन्धमय वातावरण मे हम नही ठहर सकते, हमारा सिर फटा जा रहा है।"

महात्मा ने कहा—"यहाँ आ ही गये है, तो कुछ इन लोगों से भी वात कर लो ?" और महात्मा एक चमड़ा साफ करने वाले चमार के पास खड़े होकर उसे पूछने लगे—"क्यो भाई! तुम यहाँ कैसे रहते हो, तुम्हे कोई दुर्गन्ध नही आती ?"

चर्मकार ने सहज भाव से कहा—"महात्मन्! कैसी दुर्गन्ध! हम तो हमेशा इसी कार्य मे लगे रहते है। हमको कोई दुर्गन्ध नही आती।"

महात्मा ने सम्राट् को सकेत किया—"राजन्! यह चर्मकार क्या बोल रहा है ? तुम्हें यहाँ दुर्गन्ध आ रही है और इसको बिल्कुल गन्ध नही आती, इसका क्या कारण है।"

सम्राट् कहने लगा—"महात्मन्! इन लोगों का इसी वातावरण मे रहने का अभ्यास हो गया। अभ्यस्त हो जाने के कारण इन्हें इसकी दुर्गन्ध नही आती। ये लोग इस गन्ध मे ही जीते-जीते उसके आदी हो गये है। किन्तु हमे इस वातावरण मे रहने का अभ्यास नही है। आप चलिये, हमारा तो सिर फटा जा रहा है।

महात्मा ने गम्भीर मुस्कान के साथ कहा—"सम्राट्! यही समझाने तो मैं तुम्हें यहाँ तक लाया हूँ। जैसे ये चर्मकार लोग इस गन्ध के अभ्यासी है, इन्हे चमडे की गन्ध नही आती, इसी प्रकार तुम भी उन हीरों, पन्नों और मोतियो में जीने के अभ्यस्त हो गये हो, अतः तुम्हे उनकी दुर्गन्ध नही आती किन्तु मै तो उनमे जीने का अभ्यासी नही हूँ, अतः मुझे उनमें दुर्गन्ध आती है।"

सम्राट् महात्मा की वात समझा या नही, पर पाठक अवश्य समझ

गये होंगे। क्योंकि यह कहानी आज की आम जन-चेतना के अभ्यास को अभिव्यक्ति देती परिलक्षित हो रही है।

आज अधिकाश व्यक्तियों का पूरा जीवन विपरीतियो, विसगतियो एव तनावों में जीने का अभ्यस्त बन गया है। उस अभ्यास के कारण विपरीतियाँ और विसंगतियाँ वैसी लगती ही नही है। आज का आम मानव भ्रान्तियो मे जीने का अभ्यासी–आदी बन गया है। आज उसे सत्य मे जीना बड़ा अटपटा लगता है। पाश्चात्य दार्शनिक नीत्से ने एक जगह लिखा है—"आदमी सत्य को साथ लिये नही जी सकता है, उसे चाहिये सपने, भ्रान्तियाँ, उसे कई तरह के झूठ चाहिये जीने के लिये।" और नीत्से ने जो कुछ कहा वह आम मानव की दृष्टि से सत्य ही लगता है। आज इन्सान ने जीने के लिये असत्य को बहुत गहराई से पकड़ा है। अपने इर्द-गिर्द भ्रान्तियों की बाड लगादी है और अपनी ही लगाई उस बाड से उसका निकलना कठिन हो गया है।

इस बात को समझना बहुत आवश्यक हो गया है, क्योकि इसे समझे बिना हम आनन्द या शान्ति के द्वार तक नही पहुँच सकते है और वहाँ पहुँचे बिना हमारी चेतना को कही विश्रान्ति नही मिल सकती है।

किन्तु भ्रान्तियों की बाड या असत्य के चौखटो को समझने के लिये मन को, उसकी वृत्तियो को और उसके सूक्ष्म स्पन्दनों को समझना आवश्यक है। उसे समझने की प्रक्रिया का नाम है—"समीक्षण ध्यान साधना।' समीक्षण ध्यान साधना उस जडाभिमुख तन्द्रा को तोडती है जिसके कारण व्यक्ति असत्य और भ्रान्तियो मे जीने का अभ्यासी हो गया। जैसे चमारों को चमडे की गन्ध नही आती। करीब-करीब वही दशा आम व्यक्ति की बनी हुई है।

आज का विज्ञान भी कहने लगा है कि मनुष्य नीद के बिना तो फिर भी जी सकता है, सपनो के बिना इसका जीना मुश्किल है। पुराने युग में समझा जाता था कि नीद एक आवश्यक प्रक्रिया है, किन्तु आज वह मान्यता बदल गई है। आज का विज्ञान मानता है कि नीद इसलिये आवश्यक है कि आदमी सपने ले सके।

चूंकि आदमी स्वप्न लोकी तन्द्रा मे जीने का अभ्यासी वन गया है और उसे वे अभ्यास आनुवशिक परम्परा के रूप मे मिलते जाते है, अत: उसके जीने के लिये वे ही आवश्यक हो जाते है। किन्तु यथार्थ सत्य यह है

कि इन्सान का यह विपरीतियो से भरा अभ्यास ही उसे अशान्त बनाये हुए है। आज मानव मन की अशान्ति, उसके तनाव चरम सीमा का स्पर्श करते दिखाई देते है। और इसी दृष्टि से समस्त बुद्धिजीवियों मे एक व्यग्रतापूर्ण भाव भी निर्मित होता जा रहा है कि आखिर विसगतियो से भरी यह जीवन प्रणाली हमे कहाँ ले जाकर डालेगी ? हमारे ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन कब तक असन्तुलित एवं तनावपूर्ण बने रहेगे।

और इसी व्यग्रता ने अनेक साधना-पद्धतियो का आविष्कार किया। तनाव-मुक्ति एव आत्मशान्ति की शोध मे हजारो-हजार मानव मन विभिन्न साधना सरिताओ मे प्रवाहित होने लगे। उन्ही साधना सरिताओ में से एक परम पावनी मन-मलोमस हारिणी जन-जन तारिणी सुपरिष्कृत साधना पद्धति है—'समीक्षण ध्यान।' इस साधना पद्धति के द्वारा हम न केवल वाह्य तनावो से ही मुक्त होते है, अपितु कषाय मुक्ति एव वासना विरेचन के द्वारा आत्म साक्षात्कार एव परमात्म साक्षात्कार का चरम आनन्द भी प्राप्त करते है।

चूकि इस साधना पद्धति के आविष्कर्ता समता योगी आचार्य श्री नानालालजी म० सा० स्वयं में एक उच्चकोटि के महान् ध्यान साधक है। साधना ही उनके जीवन का सर्वस्व है, उनका प्रतिपल आत्म-समीक्षण को ही समर्पित है, जो एक बहुत विराट संघ के नायक-संचालक होते हुए भी उससे जल कमलवत् अलिप्त रहने के अभ्यासी है, अतः उनकी यह आविष्कृति पूर्णतया अनुभूतियो से संम्पृक्त अन्तरंग चेतना की भाव भूमि से निःसृत है। अनेक वर्षो की गुरु चरण सेवा एव साधना अनुभवों का निष्कर्ष है—यह साधना पद्धति। अस्तु, इसका सर्व जनोपयोगी होना स्वत. निर्विवाद हो जाता है।

साधना के सन्दर्भ मे एक विचारणीय विन्दु यह है कि यह केवल चर्चा, तर्क-वितर्क अथवा अध्ययन का विषय नही है। यह स्वय मे साधन कर चलने एव अनुभूतियो से गुजरने का विषय है। हम आचार्य प्रवर द्वारा प्रदत्त इस साधना पद्धति का अनुशीलन कर स्वय अनुभव करे कि यह साधना पद्धति हमारे लिये कितनी उपयोगी एवं आवश्यक सिद्ध होती है।

प्रस्तुत कृति में आचार्य प्रवर के समीक्षण ध्यान से सन्दर्भित प्रवचनो के संकलन द्वारा समीक्षण ध्यान के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को स्पष्ट करने

का प्रयास किया गया है। चूकि ध्यान-साधना का सम्बन्ध मन की वृत्तियो के समीकरण से विशेष है, अत. इस कृति के माध्यम से पाठक मन के विभिन्न स्तरों, उसके विभिन्न रूपो एव उतार-चढावो से परिचय प्राप्त करने के साथ ही उसके समीकरण अथवा उसकी शक्ति के जागरण-उन्नयन की विधियो से भी परिचय प्राप्त कर सकेगे, जिसका समीक्षण ध्यान साधना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि प्रस्तुत रचना मे आचार्य प्रवर के विभिन्न प्रवचनो को समीक्षण ध्यान के सन्दर्भ मे सम्पादित किया गया है। अस्तु, कुछ पुनरावर्तन भी हो सकता है—हुआ है। किन्तु वह प्रासंगिकता का स्पर्श करता हुआ है और मन को समझने-साधने मे अतीव उपयोगी होने से समुचित ही परिलक्षित होता है।

पाठको को इस अभिलेख के द्वारा इतना ही सुझाव देना चाहता हूँ कि वे आचार्य प्रवर के महनीय साधनात्मक व्यक्तित्व की झलक इस कृति के माध्यम से अपने ही भीतर देखने का प्रयास करे और इस हेतु स्वय आत्म-समीक्षण की गहराई मे डूबने का प्रयास करे। फिर तो स्वत आपकी भ्रान्तिया एव असत्य मे जीने का अभ्यास-क्रम टूटने लगेगा। सहज आत्म-आनन्द स्फुरित होने लगेगा।

बस, एक बार ध्यान मे डूबने का प्रयास करे⋯⋯डूबते जाये⋯⋯, डूबते जाये⋯⋯ डूबते जाये⋯⋯।

हीरापुर (चालीसगाव) —शान्ति मुनि
दि. १७–२–८६



प्रस्तुत पुस्तक के अर्थ-सहयोगी
उदार हृदय श्रीमान् गणपतराजजी सा. बोहरा

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में सघ के पूर्व अध्यक्ष और धर्मपाल प्रचार-प्रसार समिति के अध्यक्ष श्रीयुत् गरणपतराजजी बोहरा ने अपने स्व. पूज्य पिताजी श्रीयुत् प्रेमराजजी बोहरा की स्मृति मे अर्थ सहयोग प्रदान किया है। पीपलिया कला—मारवाड़ निवासी श्रीयुत् प्रेमराजजी बोहरा एक आदर्श सुश्रावक थे। बहुत बड़े उद्योगपति होकर भी अत्यन्त सादगी के साथ अपना जीवन यापन करते थे। जैनत्व उनके जीवन, व्यवहार और आचरण मे घुल मिलकर एकात्म हो गया था।

श्रीमद्जवाहराचार्यजी से प्रेरणा प्राप्त कर सादगी, स्वदेशी, करुणा, दया, परोपकार और राष्ट्र-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत स्वर्गीय श्री प्रेमराजजी की स्मृति में उनके सुपुत्र दानवीर श्री गणपतराजजी बोहरा के इस ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रोत्साहक अर्थ सहयोग हेतु अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ आपका आभारी है।

१ समीक्षण ध्यान : एक सुपरीक्षित विधान

निर्विवाद सत्य

विश्व के समस्त धर्मो, दर्शनो अथवा सस्कृतियो में अनेक प्रकार के सघर्ष एव तनाव पूर्ण मतभेद रहे है। सबने अपने-अपने दृष्टिकोण से धर्म को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। आज तक करीब सात सौ प्रकार के धर्म और उनकी व्याख्याएं प्रस्तुत की जा चुकी है। किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि प्राय: सभी धर्मो ने ध्यान-साधना से अन्तर्यात्रा होना एक स्वर से स्वीकार किया है। ध्यान-साधना की विधियो-पद्धतियो मे अवश्य मतभेद रहे है, किन्तु ध्यान की महत्ता और उपयोगिता के विषय मे सभी धर्म एक सूत्र मे अनुबद्ध हो जाते है—अनेक धर्माचार्य एवं धर्म सस्थापक तो केवल ध्यान को ही अन्तर्यात्रा, आत्म-शुद्धि अथवा आत्म-शान्ति का एकमेव आधार स्वीकार करते है। उनकी दृष्टि मे ध्यान के अतिरिक्त अन्त: प्रवेश का और कोई मार्ग ही नही है।

ध्यान विविध रूपों में

इस्लाम ने नमाज के रूप में, तो ईसाइयत ने प्रेयर (प्रार्थना) के रूप में ध्यान को ही स्वीकार किया है। वेदान्त ने आत्मोपासना को, तो मीमासा ने याज्ञिक क्रियाओं को ध्यान का सम्बल माना है। सांख्य-योग ने यौगिक साधनाओं को, तो पतजलि ने अष्टाग योग को ध्यान का आधार स्वीकार किया है। बौद्ध ने विपश्यना, तो जैन ने सहजयोग-समीक्षण को ध्यान के रूप में स्वीकृति दी है।

इस रूप में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि सिद्धान्त भेद एवं मान्यता भेद के होने पर भी ध्यान को आत्म-कल्याण अथवा अन्त: प्रवेश का प्रमुख अग मानने में सभी धर्म निर्विवाद रूप से एक मत हो जाते है।

वास्तव में ध्यान की साधना ही एक ऐसी साधना है जिसके विषय मे विवाद को कोई स्थान-अवकाश ही नही रहता है। हां, ध्यान

की विधियों-प्रक्रियाओ अथवा पद्धतियों के सम्बन्ध मे अवश्य मतभेद रहे है। उन्हे रोका अथवा मिटाया भी नही जा सकता है। चू कि हजारों-लाखो साधक जब ध्यान साधना की प्रक्रियाओं से गुजरते हैं तो सबके अपने-अपने अनुभव होते है। प्रत्येक साधक अपने अनुभव को ही सर्वोपरि मानकर उसी पर गति करने की प्रेरणा अपने निकटवर्ती व्यक्तियो को देता है और इस रूप मे वह एक ध्यान प्रणाली का रूप ग्रहण कर लेती है।

समीक्षण ध्यान—सुपरिष्कृत विधि

ध्यान की इन्ही अनेक प्रक्रियाओ में एक सुपरीक्षित एव सुपरिष्कृत विधि है—समीक्षण ध्यान। समीक्षण ध्यान की साधना पद्धति आगम वर्णित सहज योग की साधना पद्धति का ही मूल रूप है। जैनागमो मे ध्यान साधना का विहंगम एव गहनतम विवेचन-वर्णन उपलब्ध होता है। वहां ध्यान, ध्याता और ध्येय के सम्बन्ध मे ही नहीं, इनकी सुव्यवस्थित क्रिया विधियों के सन्दर्भ में भी सुविस्तृत वर्णन हुआ है। मूल रूप से आगमों मे ध्यान के चार भेद बताये गए है। यथा—"चउविहे झाणे पण्णत्ते तजहा"—१. अट्टज्झाणे २. रुद्द ज्झाणे ३. धम्म ज्झाणो ४ सुक्क ज्झाणे। अर्थात् ध्यान के चार प्रकार है—१ आर्त्त ध्यान २. रौद्र ध्यान ३. धर्म ध्यान और ४. शुल्क ध्यान।

इन चार ध्यानो के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार से भी ध्यान को चार भेदो में व्याख्यायित किया गया है—१. पदस्थ, २. पिण्डस्थ ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत। प्रथम प्रकार के चार ध्यानो का सम्बन्ध साधनात्मक से। ध्यान साधना की विविध रूपा विधियो मे, मुख्य तौर पर समीक्षण-ध्यान साधना विधि में प्रस्तुत चारो ध्यानों का बहुत अधिक महत्त्व है, किन्तु प्रस्तुत चारो ध्यानों के विस्तार के पूर्व ध्यान की परिभाषा एव व्याख्या को समझ लेना अधिक उचित होगा।

ध्यान परिभाषा—

वाचक मुख्य श्रीमदुमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे ध्यान की परिभाषा बताते हुए लिखा है—

"उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम्।" तत्त्वार्थ सूत्र०।

जैन तत्त्व दर्शन मे शारीरिक सगठन की सशक्तता को संहनन की

सज्ञा प्रदान की है और उसे छ. भागो मे विभक्त किया गया है। १. वज्रऋषभनाराच सहनन २ ऋषभनाराच सहनन ३. नाराच सहनन ४. अर्धनाराच सहनन ५ कीलिका सहनन और ६. सेवार्त सहनन।

एक कहावत् है कि 'बलवान् तन मे बलवान् मन निवास करता है।' तदनुसार गहन ध्यान साधना के लिये सुदृढ सुगठित शरीर भी अपेक्षित होता है। इस दृष्टिकोण से उमास्वाति ने ध्यान की परिभापा मे शारीरिक सगठन को प्रथम स्थान देते हुए कहा है—उत्तम सहननस्य ··········· अर्थात् उत्तम सहनन वाला व्यक्ति ही ध्यान का अधिकारी माना जाता है।

उपर्युक्त छ. सहननो मे प्रथम तीन संहनन ही प्रशस्त, उत्तम अथवा सुगठित माने गये है। अतः इन तीन सहननो वाला व्यक्ति ही ध्यान का अधिकारी माना गया है। सामान्य शारीरिक सगठन वाला व्यक्ति अधिक समय तक आसनादि को स्थिरता पूर्वक वैठकर अपने विचार प्रवाह को एक दिशा मे स्थिर नही कर पाता है। जवकि ध्यान का मूल अभिप्रेत है—विविध दिशागामी विचार प्रवाह को एक सुव्यवस्थित दिशा प्रदान करना। इस रूप मे ध्यान की वस्तुनिष्ठ परिभाषा होती है—चित्त वृत्तियो का समीकरण। मन के विविध दिग्गामी भटकाव का अवरुन्धन अथवा दिक्सूचन।

हमारा मन खुली हवा मे पडे हुए दीपक की लौ के समान विविध दिशाओ मे डोलता रहता है और इसी कारण वह किसी एक ही दिशा मे व्यवस्थित प्रकाश नही कर पाता। दीपक की अस्थिर लौ के समान अस्थिर मन अपनी समस्त ऊर्जा को विकेन्द्रित कर देता है और परिणामतः अपने सामर्थ्य की परिसीमा को भूल कर एक छोटे से दायरे मे अनुवद्ध कर देता है।

जिस मन मे अतर मे छिपी हुई अनत आनद निधि को प्राप्त करने की क्षमता है, जिस मन में असभव को सभव कर दिखाने का जीवन है, जिस मन में ब्रह्माण्ड को हिला देने का प्रचण्ड पौरुष है, वह मन अपनी शक्ति के विकेन्द्रित हो जाने के कारण सामर्थ्यहीन अकिंचन कर वना हुआ है। ध्यान साधना का अर्थ है—मन की इसी उद्दाम ऊर्जा को एक व्यवस्थित दिशा मे नियुक्त, प्रयुक्त करना।

समीक्षण की आगमिक विधियाँ

मन की इस शक्ति के प्रयोग—उपयोग की दिशा मे अगणित प्रयास हुए है और अनेक विधियाँ आविष्कृत हुई है। समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया उन्ही विधियों में एक सुपरीक्षित, सुपरिष्कृत विधि है। ध्यान साधना की इस प्रक्रिया में हम बाहर की दुनिया से अन्दर की दुनिया मे प्रवेश करते है। बंधन से मुक्ति अथवा राग से विराग की ओर बढ़ने की इस प्रक्रिया को समीक्षण ध्यान की संज्ञा प्रदान की गयी है। मूल मे यह प्रक्रिया मनोवृत्तियो के नियत्रण की अथवा चित्त वृत्तियो के सशोधन की प्रक्रिया है और चित्त वृत्तियों के सशोधन के लिए जैन तत्वद्रष्टाओ ने जो अनेक दृष्टियां अथवा विधियाँ प्रस्तुत की हैं, उनमें समीक्षण दृष्टि एव विधि सशोधित विधि है।

आगामों में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का उल्लेख मिलता है। ध्यान के इन भेदों को सम्मुख रख कर ज्ञानार्णव योग दृष्टि समुच्चय आदि में जो वर्णन मिलता है, उससे भी ध्यान सम्बन्धी ज्ञान की अभिवृद्धि की जा सकती है। किन्तु समभाव में परिणत हुए विना यथावस्थित स्वरूप का बोध नही होता है। समभाव की अवस्था का सम्यक् ईक्षण ही समीक्षण है। जिसके माध्यम से आर्त को आर्त रूप में और रौद्र को रौद्र के रूप में समीक्षण करता हुआ साधक ज्ञेय एवं ज्ञेय सम्बन्धी प्रज्ञा का विकास करता हुआ धर्म एवं शुक्ल ध्यान की ज्ञेय-उपादेयता का भली-भाति समीक्षण कर सकता है।

समीक्षण ध्यान हस चोचवत् वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध कराता हुआ अंतर्पथ के राही को ऊर्ध्वारोहण में गति प्रदान करता है।

ज्ञानार्णव, योग दृष्टि समुच्चय आदि आर्य ग्रथो मे जिन पदस्थ आदि ध्यान विधियो का उल्लेख मिलता है वे ही आत्म-समीक्षण की भी विधियाँ है। आगमों में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का जो गहन-तम विवेचन उपलब्ध होता है वह सब समीक्षण का ही विविध रूपी विश्लेषण है। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की जो भावनाएँ—अनुप्रेक्षाएँ बताई गई है, वे समीक्षण की विविध—आयामी पद्धतियाँ ही है।

इस प्रकार मन को किंवा मनोयोग को स्वस्थ दिशा प्रदान करने

वाली जितनी भी विधियाँ, प्रणालियां अथवा पद्धतियाँ है, वे सब समीक्षण ध्यान की विधियाँ मानी जा सकती है।

आगमिक परिप्रेक्ष्य मे चितन किया जाय तो ध्यान का सम्बन्ध प्रारभ मे मानसिक अशुभ वृत्तियो का परिमार्जन एवं शुभ वृत्तियो को आत्म-स्वरूप की ओर दिशा देने से ही अधिक है। इस प्रकार की प्रक्रिया से चलता हुआ साधक जब तेरहवे व चौदहवे गुणस्थान मे पहुँचता है तो उन वीतरागी आत्माओ को ध्यान साधना की विशेष अपेक्षा नही रहती है, क्योकि उन स्थानवर्ती आत्माओ के मन की अशुभ वृत्तियाँ परिमार्जित हो जाती है, जिससे मन सम्बन्धी चचलता का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है एव शुभ वृत्तियाँ आत्म-स्वरूप की ओर मोड़ खाती हुई अप्रमत्त भाव मे समाविष्ट हो जाती है। अतः प्रारम्भिकता से लेकर के कुछ ऊर्ध्वगमन तक स्थिर रखने के प्रयास की आवश्यकता नही रह जाती है। इन दोनो गुण-स्थानो मे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती एवं सम्भूछिन्न क्रिया निवृत्ति रूप दो ध्यान पाते है। वे भी मन, वच, काय के योगो का व्यवस्थित करण एव चरम परिणति की अवस्था मे आत्म प्रदेशो का स्थिरीकरण होने से सम्बन्धित है। क्योकि वहाँ ध्यान साधना की अतिम मजिल प्राप्त हो जाती है।

मूल मे मन की प्रारभिक चचलता को समाहित कर उसे स्वय की आत्मा को परमात्मा के स्वरूप की दिशा मे जोड़ देना अर्थात् परमात्म स्वरूप स्वय में परिणत कर लेना ध्यान साधना का उद्देश्य हैं और वह मन की वृत्तियो के समीकरण से बनता है। अस्तु, प्रस्तुत प्रसग मे मन के विश्लेषण और उसे साधने के सदर्भ मे ही विचार करने का प्रयास कर रहे है।

मन—एक सृजनात्मक शक्ति

समीक्षण ध्यान का उद्देश्य है—अन्तर्यात्रा। मन की वृत्तियो को बाहर के भटकाव से अन्तर की ओर मोड़ कर उसकी गतिविधि को भी समझ लेना आवश्यक है।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि अपनी सामान्य स्थिति मे आम व्यक्ति के लिये मन एक ज्वलन्त समस्या बन कर खडा है। मन चंचल है, विकारो की ओर दौड़ता है, बड़े-बड़े साधको को भी यह परेशान कर डालता है। यह मन ही कषायो और राग-द्वेष की ओर दौडाता है तथा

यही हजारों-हजार उलझनें खड़ी कर देता है। मन को साधने के लिये ही हजारों योगी-साधक जप, तप-साधना और उपासना की सख्यातीत विधियों का आविष्कार करके उनकी ओर प्रवर्तित होते है। मन एक ऐसा अश्व है कि यदि लगाम हाथ मे न हो तो सवार को किसी भी बीहड़ वन में भटका सकता है या भयकर गड्ढे में डाल देता है।

किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मन की दिशा बदल जाए, उसे सम्यक् मार्ग मिल जाए तो वह प्रचण्डतम ऊर्जा का सवाहक बन कर परमात्म साक्षात्कार का माध्यम भी बन सकता है। जैसे सुशिक्षित और हस्त लगाम वाला घोडा सवार को इच्छित समय मे इच्छित स्थान पर पहुँचा देता है, उसी प्रकार समाहित-सुसाधित मन निश्चित गन्तव्य तक पहुँचा देता है। एक बार मन की शक्ति को पहचानने भर की आवश्यकता है। शक्ति की थाह मिल गयी और उसे दिशा मिल गई तो मन के सारे भटकाव अवरुद्ध हो जायेगे। मन एक बार भी अन्तर्मुखी बन तो जाय, फिर वह बाहर झाँकेगा ही नही। मन को एक प्रशस्ततम शक्ति के रूप में देखा जाय, उसे शत्रु नही, परम प्रिय मित्र माना जाय, तो वह मित्रवत् ही कार्य करेगा। मन के द्वारा ही तो योगीजन अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त करते है। यदि मन को ठीक से समझा जाय और उसके उपयोग की दिशा का सम्यग्बोध हो तो ज्ञात होगा कि मन एक महान् कार्यकर्ता है। वह एक महान् सृजनात्मक शक्ति है।

चंचलता भी शुभ है—

मानले कि मन चचल है। फिर भी वह चचलता ही तो आत्म-साधना के लिये भी प्रेरित करती है। वही उच्च साधको और साधना केन्द्रों तक पहुँचने की प्रेरणा प्रदान करती है। मन चचल है, इसीलिये तो वह कही भी सन्तुष्ट नही होता या स्थिर नही होता—विश्रान्ति नही लेता। उसे रूप मिला तो वह उससे श्रेष्ठ रूप की खोज करता है। रस मिला तो मधुरतम रस की खोज में और अधिक दौड़ता है। गध, स्पर्श और शब्द मिले तो वहा भी उसे अपनी उपलब्धि मे कहा सन्तोष है? वह उससे श्रेष्ठतम की अन्वेषणा-गवेपणा चालू ही रखता है। यह मन की चचलता ही तो ऊँचे से ऊँचे स्थान की ओर चैतन्य को दौडाती है। उसे अधिक से अधिक आगे बढ़ाने को प्रेरित करती है।

यदि मन चचल नही होता तो क्रोधी क्रोध पर ही स्थिर हो जाता।

मानी मान पर और लोभी लोभ पर ही चिपक कर बैठ जाता। विषयी वासना मे ही जडीभूत हो जाता, किन्तु ऐसा नही होता है। मन अपनी गति को रोकता नही, उसे कही विश्रान्ति नही मिलती। इसका अर्थ यह नही है कि मन-विश्रान्ति नही चाहता है। वह दौड़ता ही रहना चाहता है। मन विश्रान्ति चाहता है। किन्तु वह अपूर्ण मे नही रुकना चाहता है। वह सदा परिपूर्णता की खोज मे दौडता-भटकता है। वह थोड़ी उपलब्धि से समझौता नही करता। वह पूर्णता मे समाहित-अवगाहित होना चाहता है। वह अधूरी नही, पूर्ण समता चाहता है। वह एकात्मा से नही, विश्वात्मा, समस्त चराचर या परमात्मा के साथ एकाकार (तुल्य) होना चाहता है।

मन इसीलिये चचल है कि वह इन्द्रियो के आकर्षणो को, अशान्ति को छोड कर परम शान्ति की ओर आगे से आगे बढना चाहता है। जैसे मधुकर मकरन्द के लिए एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर मँडराता रहता है, उसी प्रकार मन भी अधूरी तृप्ति के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय पर, एक विषय से दूसरे विषय पर दौडता रहता है। मन की चंचलता के सन्दर्भ मे एक रहस्यमय विमर्श यह है कि वह पूर्ण विश्रान्ति चाहता है। अल्पकालिक अथवा अधूरी विश्रान्ति मे वह स्थिर नही हो जाना चाहता और इसीलिये जब तक वह आत्म-समीक्षण या परमात्म ध्यान मे पूर्ण समरस नही बन जाता तब तक चचल-चपल बना रहता है। यदि मन आत्म-समीक्षण की गहराई मे डूब जाय, अन्तर्ज्योति के साक्षात्कार मे लीन हो जाय या परमात्म भाव की गहनता मे खो जाय तो वह चचलता को त्याग कर अविचल-निश्चल हो जायेगा। यह ध्यातव्य है कि मन आत्म-विस्मृति मे कभी स्थिर नही रह पायेगा। उसकी चंचलता-अस्थिरता बढेगी ही और वह इस चैतन्य देव को कभी भी सुख की सास नही लेने देगा। किन्तु ज्योंही यह पूर्ण आत्म विश्रान्ति मे डूब जाता है, अपने आत्म मे या परमात्म भाव मे तन्मय बनता है कि इसे अपना स्थायी आश्रय मिल जाता है और वहा वह टिक कर बैठ जाता है। एक सामान्य सभ्य व्यक्ति को भी अपने बैठने के योग्य आसन मिलता है तभी वह वहा बैठना उचित समझता है अन्यथा वह खडा रहना या इधर-उधर टलहना ही अधिक पसन्द करता है। यहा एक छोटी-सी कथा स्मृति पटल पर उभर रही है—

मन को स्थान दें—

एक अलमस्त साधक एक कुटिया में रहता था। कुटिया जंगल के मनोरम-शान्त-प्रशान्त-भव्य रमणीय स्थान में थी, किन्तु थी घास-फूस की। महात्मा अपनी उस छोटी-सी कुटिया में ही योग साधते और आनन्द मनाते।

एक दिन नगर का सम्राट् महात्मा के दर्शन हेतु कुटिया पर पहुँचा। महात्मा कही बाहर गये हुए थे। महात्मा के शिष्यों ने सम्राट् को कुटिया में बैठने का आग्रह किया, किन्तु सम्राट् बाहर वृक्ष के नीचे टहलता रहा, कुटिया मे नही बैठा। कुछ समय पश्चात् महात्मा आ गये तो शिष्य ने साश्चर्य निवेदन किया- "गुरुदेव! इस सम्राट् को यहां कुटिया में बैठने का बहुत आग्रह किया, किन्तु वह बैठता ही नही, कभी से घूम रहा है।"

महात्मा ने कहा.......... "भाई! हम लोग ठहरे फक्कड़—गरीब, और राजा को बैठने के लिये अच्छा आसन चाहिये। उसके योग्य जगह नहीं है तो वह कैसे बैठेगा?"

बस यही स्थिति मन के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। उसके अनुकूल स्थिति बनाली जाय, तो वह टिकेगा—स्थिर बनेगा, उसकी चपलता अपने आप रुक जाएगी। यह मन अपने अनुकूल इच्छित वस्तु या सर्वोत्कृष्ट तत्त्व की उपलब्धि हेतु भटकता है। सर्वोत्कृष्टता की उपलब्धि के साथ ही यह स्थिर हो जाता है।

समीक्षण—राग द्वेष से विनिर्मुक्त रह देखना

इसमें राग द्वेष पूर्वक दमन का प्रतिपादन नही है। राग द्वेष के साथ किसी का दमन करना समीक्षण दृष्टि को इष्ट नहीं है। रागादिक वृत्ति से रहित अवस्था में साधक को मन का दमन करना होता है।

फ्राइड ने जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे दमन संबधी विजय का विरोध किया है। वह रागादिक वृत्ति एव इन्द्रिय विषयों से अनुरंजित है। उस विषय मे मनोविज्ञान अधूरा रह जाता है। यही कारण है कि फ्राईड के शिष्य यूंग आदि ने फ्राइड के सिद्धान्तों का प्रायः समर्थन नही किया। उनकी दृष्टि कुछ विशद एवं गहराई से चितन की थी। वस्तुतः अनुभव सत्य भी इस बात की पुष्टि करता है कि अमुक अवस्था में अमुक

सीमा तक दमन की भी आवश्यकता रहती है। विद्यार्थी वर्ग को तटस्थ भाव वाला वास्तविक अध्यापक उसकी मनोनुकूल वृत्ति से शिक्षण नही देता, किन्तु विद्यार्थी की हितदृष्टि से शिक्षण देता है। विद्यार्थी अवस्था में रहने वाले छात्र वर्ग पैनी दृष्टि से ऊँचाई तक चितन नही कर पाते, अतएव वे अपना वास्तविक हित नही सोच सकते। उन विद्यार्थियों का वास्तविक हित तटस्थ अध्यापक ही सोच सकता है। तटस्थ दृष्टि से हित सोचने वाला शिक्षक विद्यार्थी की मनोवृत्ति को देखता है। उसे लगता है कि इस विद्यार्थी की मनोवृत्ति कुसंगति से अथवा अन्य किसी भी हेतु से सही नही है। उसको उनकी वृति का दुष्परिणाम दिखाने पर भी उस वृत्ति के अधीनस्थ रहने से विद्यार्थी जान नही पाता। अतएव अध्यापक उसकी वृत्ति को दबाता है। उससे कहता है कि अमुक कार्य तुम्हे नही करना है, अमुक कार्य तुम्हे करना होगा। विद्यार्थी की मनोवृत्ति नही होने पर भी शिक्षक के दबावपूर्वक कहने से स्वयं की मनोवृत्ति को दबाकर शिक्षक द्वारा बतलायी गयी प्रवृत्ति को कुछ समय अनमनेपन से भी करता है। कुछ समय के पश्चात् उसको उस प्रवृत्ति मे स्वतः हित ज्ञात होता है। तव फिर पूर्व की मनोवृत्ति से उसकी रुचि हट जाती है। उसे वह हेय समझकर अध्यापक के कथनानुसार चलने लगता है। फिर कोई अन्य व्यक्ति उसकी वृत्ति का दमन भी करना चाहे, तो वह विद्यार्थी कर नही पाता तथा—शिशु अवस्था में खेलना, कूदना आदि क्रीड़ा-जनित कार्य अच्छे लगते है। उस समय हितैषी सरक्षक एवं शिक्षक उसको अक्षरी ज्ञान मे वलपूर्वक लगाते है। वह आड़े-टेड़े अक्षर भी लिखने लगता है। पर जब उसको ज्ञात हो जाता है कि यह सीखे बिना मेरा छुटकारा नही है। शनैः शनै. उसमें अपना मनोयोग लगा परीक्षा फल के साथ संयोग कर अक्षरों का अच्छी तरह से अध्ययन करने लग जाता है, तव उसकी रुचि उसमे वढ जाती है। जो पूर्व की अनिष्ट वृत्तियां थीं, उनका रूपान्तरण हो जाता है। उससे उस विद्यार्थी को स्वयं की हित-दृष्टि का ज्ञान हो जाने से उन सरक्षक एवं शिक्षक का उपकार मानने लगता है और उस हित दृष्टि को स्वय के जीवन मे उतार कर स्वयं को सुखी वनाने का प्रयत्न करता है। यह संरक्षक एवं शिक्षक की हित-भावनापूर्वक विवेक दृष्टि से दमन का ही फल सामने आता है।

मानसिक वृत्ति सभी एक समान नही होती है। कई वृत्तियाँ वास्तविक शिक्षणाभाव, कुसंगति एवं दुर्वासनाओं के अभ्यास से वन जाया

करती है। उन वृत्तियों का स्वच्छदता पूर्वक उपयोग करने दिया जाय तो वे पुरुष स्वय का अहित सपादन करते है सो करते ही है। किन्तु उनका जिन-जिन के साथ सबध रहा हुआ है या होता है, उन सभी का अहित होता है। साथ ही परम्परा से अन्य अनेक आत्माओ का अहित होता है। शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है कि "अप्पा चेव दमेयव्वो" स्वयं की आत्मा को दमन करना चाहिए। जिससे कि अन्य के द्वारा दमित होने का प्रसंग उपस्थित नही हो।

समीक्षण साधना का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है कि मन को एक अधूरे नश्वर तत्त्व से दूसरे विनश्वर तत्त्व पर अविवेक पूर्वक बलात् खींच कर रोकने की हठ योग की साधना कभी सफल नही हो सकती है। मन पूर्णता की तलाश करता है, तो उसे पूर्णता पर सतोष होगा। समीक्षण ध्यान साधना भी अज्ञानता के साथ अविवेक पूर्वक जबरन अपूर्णता एव विनाशशीलता पर रोकने का पक्षपाती नही है।

प्रभु महावीर ने अज्ञान एवं अविवेक पूर्वक मन के दमन पर नही, संयमन पर जोर दिया है। सयमन शब्द "यमु उपरमे" धातु से बनता है। संयमन का तात्पर्यार्थ है कि राग द्वेष की वृत्ति से उपरत होना, उनसे विलग हो करके चलना।

समीक्षण ध्यान अविवेक व अज्ञानता पूर्वक मन पर जबरन दवाव डाल दबाने का हिमायती नही है। आज का मनोविज्ञान भी सिर्फ फ्राइड के सिद्धान्तानुसार मन को बलात् रोकने का विरोधी है किन्तु युंग आदि मनोवैज्ञानिक के सिद्धान्त फ्राइड के अनुरूप कथन करने वाले नही है। वे आपेक्षिक दृष्टि से मन को अमुक सीमा तक विवेक पूर्वक दमन के पक्षपाती है। अत: मन को सम्यक् ज्ञान के आधार पर साधने की प्रक्रिया सिखाता है—समीक्षण ध्यान। समीक्षण ध्यान का उद्देश्य है कि मन को छोटी-मोटी उपलब्धियों मे नही, परम अध्यात्म, परम आनन्द की सरिता मे गोता लगाने के लिए काषायिक वृत्ति से रहित यथावस्थित वस्तु का अवलोकन करते हुये अविनश्वर परम साध्य पर छोड़ दे। फिर वह अन्य कही भागने की चेष्टा नही करेगा। मन को उस पावन अन्तरात्मा की यात्रा का मार्ग दे दो, जहा उसे ऐसा रस आयेगा कि वह दौड़-दौड़ कर बारंबार वही भागेगा। एक वार उसे अन्तरात्मा की झलक मिली कि उसे इन्द्रियो के बाह्य विपय आकर्पित नही कर सकेंगे। एक वार उसे

परमानन्द मय परमात्मा की झलक मिल जाने दीजिए फिर मन कहाँ भागेगा। मन को उस पावन आत्म-यात्रा का मार्ग दे दो। जहाँ उसे ऐसा रस आयेगा कि वह दौड़-दौड कर बारबार वही भागेगा। एक बार उसे अन्तरात्मा की झलक मिली कि उसे इन्द्रियों के बाह्य विपय आकर्षित नही कर सकेंगे, एक बार उसे परमानन्दमय-परमात्मा की झलक मिल जाने दीजिए। फिर मन कहा भागेगा ?

इस रूप मे समीक्षण ध्यान के द्वारा हम न केवल मन की शक्ति को ही पहचानते है अपितु अपनी अन्तश्चेतना मे जो-जो शक्तियाँ छिपी पडी है, उन्हे भी जान लेते है। इस ध्यान के द्वारा ही हम अतरग निधि का साक्षात्कार करके दारिद्रय को मिटाकर परम गभीर, परम श्री-सम्पन्न वन जाते है। समीक्षण ध्यान की यह साधना गहरे मनोविज्ञान से भी करके तत्त्व को सस्पर्शित करने वाली है। इसके द्वारा मन की परिधि का तो सागोपाग विज्ञान होता ही है, किन्तु मन की परिधि से पर रहे अलौकिक तत्त्व का भी साक्षात्कार हो सकता है।

इसी आधार पर ध्यान को कल्पवृक्ष, कामधेनु, चितामणि एव काम कुम्भ जैसे उन्नत तत्त्व से सतुलित किया जाता है। जैसे कल्पवृक्ष, कामधेनु, चितामणि एव कामकुम्भ मनोवाछित फल प्रदान करने वाले है। उसी प्रकार समीक्षण ध्यान साधना की प्रक्रिया सब कुछ आनन्द प्रदान करने वाली प्रक्रिया है। मनोवृत्तियो का पूर्ण समीक्षण हुआ नही कि चेतना पूर्ण आनन्दलीन हुई नही। मन की इस परिपूर्ण आनन्दमय विश्रांति मे ले जाने की प्रक्रिया का नाम है—समीक्षण ध्यान साधना।

समीक्षण की पदस्थादि विधियाँ

अब जरा समीक्षण की प्रक्रिया मे प्रयुक्त पदस्थादि चारों ध्यानों की सक्षिप्त विधि को समझने का प्रयास करेंगे।

पदस्थ ध्यान

सस्कृत मे पद उस शब्द रचना को कहते है जो प्रत्यय से युक्त हो और स्पष्ट अर्थ देता हो। इसी दृष्टि से पदस्थ ध्यान में नमस्कार मन्त्र, लोगस्य, नमोत्थुण, आगम पाठों आदि का एकाग्र चित्त से स्वस्थ मन: स्थिति के भाव एव अर्थानुसधान के साथ समीक्षण करना। आगमिक सन्दर्भो का चिन्तन-मनन पूर्ण समीक्षण करना पदस्थ समीक्षण है।

पिण्डस्थ ध्यान

पिण्ड का अर्थ यहां तत्त्व विशेष से है। आत्म-तत्त्व एवं शरीर तत्त्व की भिन्नता का अवधानता पूर्वक समीक्षण करना। देहाध्यास से ऊपर उठकर चेतन तत्त्व की अविनाशिता का समीक्षण पिण्डस्थ समीक्षण है।

रूपस्थ ध्यान

रूपस्थ का अर्थ यहां पदार्थो के स्वरूप विशेष से लिया गया है। वीतराग अरिहन्त प्रभु के स्वरूप का अथवा संसार के द्रव्यो के रूपों का वह चिन्तन जिसके द्वारा चैतन्य अरिहन्त के रूप मे स्थित हो सके—रूपस्थ ध्यान कहलाता है।

रूपातीत ध्यान

सिद्ध प्रभु की इन्द्रयातीत अवस्था का, उनके मौलिक गुणों का मनन रूपातीत समीक्षण ध्यान है। यहां रूपातीत का अर्थ इन्द्रिय-ग्राह्य रूप से भिन्न अरूपी सत्ता से है और वह हमारा चरम अभिप्रेत है।

ये चारों प्रकार के ध्यान समीक्षण की विभिन्न प्रक्रियाओं से जुड़े हुए है। एकान्त, शान्त वातावरण में बैठ कर उपर्युक्त प्रकार के भिन्न-भिन्न चिन्तन-मनन एवं निदिध्यासन की विधियाँ समीक्षण के मनोविज्ञान से जुड़ी हुई है।

चूंकि इन प्रक्रियाओं का सम्बन्ध भी मुख्यतया मन की वृत्तियों को अन्तराभिमुख बनाने से विशेष है। अतः समीक्षण के मनोविज्ञान से इनका गहरा सम्बन्ध है। समीक्षण की इस प्रक्रिया के द्वारा साधक अपने मन को पद से पिण्ड और पिण्ड से रूप और रूप से रूपातीत चिन्तन की ओर गतिशील करता है तथा अपनी चरम परिणिति में वह आत्म-साक्षात्कार एवं परमात्म साक्षात्कार का अनुपमेय आनन्द प्राप्त कर सकता है। यही तो समीक्षण ध्यान की चरम उपलब्धि है। जिसके प्राप्त होने के पश्चात् कुछ भी अप्राप्त नही रहता। वहां मन अपनी पूर्णता मे विश्रान्ति ले लेता है। आत्मा स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है।

समीक्षण के मनोविज्ञान को समझे, उसकी गहराई में उतरने का प्रयास करे, फिर सब कुछ साधक के अपने समक्ष ही दिखाई देगा। मन का भटकाव सहज ही रुक जायेगा और वह परमात्म भाव के परमोच्च स्वरूप में लीन हो जायेगा। □ □

२ सहज योग बनाम समीक्षण ध्यान

अध्यात्म साधना का मुख्य केन्द्र "मन" है। यह नीति वाक्य अत्यन्त तथ्यपरक है कि "मनो विजेता जगतो विजेता।" किन्तु मन की साधना सुगम नही है। अनेकानेक साधक मनोनिग्रह के विविध साधना-मार्गो का अवलम्बन लेते है, परन्तु अधिकाश साधक मन की साधना के विषय मे हताश और विनाश हो पथ-विचलित हो जाते है—साधनारत साधक प्रभु के साक्षात्कार के प्रसग के साधना मे बैठते है, किन्तु जब उद्दाम मन उस साधना से विलग हो जाता है, तब साधना में रस की प्राप्ति नहीं हो पाती है। वे साधना के लक्ष्य से विमुख बने साधक मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते है। उस स्थिरता के प्रयास मे उन्हे जब आशिक सफलता भी नही मिलती है, तब अधिकतर साधक या तो मनोनिग्रह के अप्राकृतिक उपायो की ओर बढ जाते है अथवा ऊबकर मनोनिग्रह के प्रयास को ही छोड़ बैठते है। आखिर मे जाकर वे यह कहना शुरू कर देते है कि मन कभी वश मे नही हो सकता है।

मन एक टेढ़ी खीर

वास्तव में मन को वश में कर पाना एक टेढी खीर है। आप किसी एक विषय पर कुछ गहराई से विचार करना चाहते है अथवा सिर्फ प्रभु के नाम की माला ही, एक चित्त से फेर लेना चाहते है और मन को रोक कर उसे आप उसमे लगाना चाहते है, लेकिन होता क्या है कि आपने मन को एक विषय या प्रभु के नाम मे जैसे ही लगाया कि दूसरे ही क्षण वह दौड़ जाता है आपके कारखाने में, कि वहा के उत्पादन को कैसे हल्की जात का बनाया जाय, जिससे खर्चा कम बैठे और मुनाफा ज्यादा आवे। वहां से मन को किसी तरह खीच खाँच कर लावे और फिर से प्रभु के नाम मे जुटावे, किन्तु वह फिर अगले ही क्षण आपके पुत्र के विवाह की चिता मे भाग जायेगा, कि अभी तक पचास हजार का माल देने वाले लडकियो के पिता तो आ चुके है—अब और माल के लिये ठहरा जाय या सम्बन्ध तय कर लिया जाय। आप फिर वहा से उसे खीच कर माला मे पिरोना

चाहते है और वह बार-बार इधर-उधर भागता रहता है। अक्सर पहले-पहल नतीजा यह निकलता है कि चाहे आप माला फेरने बैठे हैं या सामायिक लेकर, उस क्रिया का समय पूरा हो जाता है, परन्तु लगता है कि अन्तःकरण से तो उस क्रिया की साधना हुई ही नही। शरीर जरूर क्रिया में बैठा दिख रहा था, किन्तु मन तो न जाने कहां-कहां छलांगे लगाता फिर रहा था।

मन को गति इतनी चचल होती है कि वह एक क्षण में अगणित स्थानों की सैर कर आता है और जितनी चचलता अधिक होती है उतने ही विविध विचार तो कर लिये जायेगे, किन्तु उनमे से किसी एक विचार का भी सफल कार्यान्वियन हो—इसकी आशा कम रहती है। अतः इसमे कोई सन्देह नही कि जब तक मन की इस चचलता को समाप्त न करदे तब तक साधना की सफलता का वातावरण नही बन सकेगा।

जिसने-आत्म-साधना की ओर आगे कदम बढाया है, उसके सामने दो ही विकल्प रहते है या तो वह अरिहन्त परमात्मा की शरण मे जाकर उनकी प्रार्थना एव आत्म-समीक्षण, निज-नियन्त्रण के आधार पर मन को एकाग्र बनाने का अभ्यास करे तथा उस एकाग्र चित्त से प्रभु की भक्ति और सेवा साधे अथवा मन की गोता-खोरी मे उलझ कर अपनी साधना की स्थिति को खो बैठे। प्राय. कई साधको के ऐसे भाव बन जाते है कि जब तक मन की चचलता समाप्त न हो और उसे वश में न कर सकें तब तक साधना के क्षेत्र मे आगे कुछ भी नही किया जाना चाहिये। किन्तु निराशा के ऐसे अन्धकार में डूबने की जरूरत नही है, क्योंकि अरिहन्त परमात्मा के आदर्श स्वरूप का गहराई से समीक्षण करते रहे तो शीघ्र ही मन वश में होकर रहेगा। उनका आदर्श स्वरूप इतना रोचक एव अनुप्रेरक है कि एक बार ज्ञान दृष्टि से उसे समझने और परखने का प्रयास कर लिया जाय, तो मन मे उसे निजात्मा के लिये भी पा लेने की अडिग ललक पैदा हो जाती है। यह ललक ही मन को इतनी मजबूती से उस दिशा में मोड़ देगी कि वह पथ-भ्रष्ट होने की कोशिश तक नही करेगा। समीक्षण की प्रक्रिया ही इतनी प्रभावोत्पादक है कि फिर मन कही जा नही सकता।

मन साधना असंभव नही

यह मानकर चलिये कि संसार में एक भी ऐसा कार्य नही, जिसे

संकल्पवान् और साहसी पुरुष पूरा न कर सके। अरे, साहसी पुरुष ही तो असभव को संभव करके दिखाते है। अरिहन्त परमात्मा के दिव्य स्वरूप मे मन को एकाग्र करने के अभ्यास से चचलता को धीरे-धीरे समाप्त करते जाना कठिन नही होता। दुनिया मे ऐसा कोई तत्त्व नही, जिसकी स्थिति का पता नही लगाया जा सके। यह पता लगाने का काम भौतिकता की दृष्टि से ही नही होता, उसमे आध्यात्मिक जीवन की परिपुष्टि का ज्ञान भी आवश्यक होता है। बल्कि यो कहा जाय कि आध्यात्मिक क्षेत्र किसी भी तत्त्व का पता लगाने मे कभी असफल नही होता, जबकि भौतिक विज्ञान की कही भी सम्पूर्ण रूप से पैठ नही होती है। जो उसने पता लगा लिया है, वह कही भी पूर्ण नही है। मन के सम्बन्ध मे ही देखिये कि विज्ञान न तो इसके स्वरूप का अब तक ठीक पता लगा पाया है, न वह मन की चचल गहराइयों मे ही आकर उसकी गति के बारे मे कोई अनुमान लगा सका है, किन्तु आध्यात्मिकता के लिए मन ऐसा कोई दुरूह तत्त्व नही, जिसका वह पता नही लगा सके; बल्कि मन की गति के प्रत्येक रूप का पूर्ण विवेचन आध्यात्मिक क्षेत्र मे खोजा हुआ मिलेगा। इसलिये निराशा का कोई कारण नही कि मन को वश मे किया नही जा सकता। मन की वृत्तियो का समीक्षण करके उसे नियन्त्रित किया जा सकता है।

मन को स्थिर करने की सचोट विधि का उल्लेख आध्यात्मिकता मे है। वह है समीक्षण ध्यान। मन के परिणामो की चचलता कई प्रकार से मनुष्य के सामने आती है। उस चचलता को समाप्त करने के लिए कई लोग—अलग अलग साधना की विधियाँ अपनाते है। कुछ लोगो का कहना है, कि इसके लिये त्राटक किया जावे। त्राटक का नाम शायद आपने नही सुना होगा। किसी भी एकान्त स्थान मे दीवार पर अमुक चिह्न अकित करके उसी की ओर एकटक दृष्टि साधकर मन मे एकाग्रता लाने का जो प्रयास किया जाता है, उसे त्राटक विधि के नाम से पुकारा जाता है। दृष्टि को एक स्थान पर केन्द्रित करके चित्त को एकाग्र करने की इस विधि को हठयोग का ही एक प्रकार समझा जाना चाहिए। एक तो यह बड़ी ही स्थूल विधि है और इससे देखा गया है कि आँखो की नजर खराब करने के अलावा चचलता समाप्त करने की दृष्टि से कोई विशेष लाभ नही होता। इस विधि से आत्म शान्ति की भी कोई खास तरह की प्रेरणा नही मिलती है।

हठयोग नहीं सहज योग—

एकाग्रता लाने के लिये प्राणायाम की विधि भी अपनायी जाती है। प्राणायाम के तीन रूप मुख्य है—रेचक, पूरक और कुम्भक। स्वास ग्रहण-विमोचन-निरोध के माध्यम से ये विभिन्न प्रक्रियायें पूरी की जाती हैं। अतः प्राणायाम का मुख्यतः सम्बन्ध शरीर के साथ होने से इसका रूप भी स्थूल ही रह जाता है। जो मन की सूक्ष्म क्रियाओं को प्रभावित कर सके, ऐसा कम ही देखा जाता है। यह अवश्य है कि प्राणायाम से श्वास पर कुछ काबू पा लिया जा सकता है। कभी कभी तो कुम्भक आदि के प्राणायाम की प्रक्रिया से मस्तिष्क की बारीक नसे फट जाती है और साधक जीवन भर के लिए या तो विक्षिप्तता का बोझ मोल ले लेता है अथवा अपने जीवन से ही हाथ धो बैठता है। ऐसा कुप्रभाव किसी गलत प्रक्रिया से हो जाता है। समाधि के द्वारा भी कई लोग मानसिक नियत्रण करना चाहते है। समाधि में वायु को कपाल मे चढा लेते है और फिर पंच भूत में से एक-एक तत्त्व की साधना की जाती है। इसमें भी श्वास क्रिया का ही मुख्य प्रभाव रहता है। समाधि के द्वारा दिल की धडकन तक को रोक लेते है। किन्तु ये सारे उपाय बाहरी स्थिति पर आधारित होने से अपने स्थूल रूप में ही शरीर की अमुक क्रियाओं को नियत्रित करते है। ये मन की सूक्ष्म चंचलताओं का निग्रह करके उसे स्थायी रूप से सद्विचारणा में स्थिर कर सके हों, ऐसा नही पाया गया है। हठयोग की अपेक्षा सहज योग की स्थिति के साथ यदि मन की चंचलता को समाप्त करने की कोशिश की जाय तो चचलता से निवृत्ति मिल सकती है। साहजिक योग की प्रक्रिया के लिये केवल बाहरी साधनों के ऊपर ही अवलम्बित नही रहना है, बल्कि बाहरी साधनों की सहायता के वाद साधना को अन्तर की कड़ियों से जोड़ना पड़ता है।

मन एक शक्तिशाली तुरंग

मन ऐसा चंचल तुरंग है, जिस पर नियंत्रण न कर सका, तो वह न जाने कहाँ-कहाॅ और कैसी-कैसी स्थिति मे गिराता रहता है, जिसका कोई अनुमान भी नही किया जा सकता। परन्तु यदि इसी तुरंग को आप एकाग्रता की लगाम लगा सके तो फिर इसके समक्ष शक्तिशाली एवं गति-शील भी दूसरा साधन नही मिलेगा। लगाम से पूरी तरह नियन्त्रित यह तुरंग फिर आत्म-विकास-पथ पर इतनी सन्तुलित और स्वस्थ गति से चलेगा कि फिर आपकी चरम यात्रा आसान वन जायेगी। कहा गया है

कि "मन एव मनुष्याणा कारण बध मोक्षयो: ।" मनुप्य के बन्ध या मोक्ष का कारण मन ही होता है। मन का चचल घोड़ा बेकाबू है, तो वह बन्ध करता जायेगा, जिसके कारण आत्मा कर्मो से बँधकर जन्म-मरण के चक्र मे भ्रमित होती रहेगी। किन्तु यदि यही घोड़ा काबू में आ जाता है, तो फिर इसी एकाग्र मन के जरिये मोक्ष तक की महायात्रा सफलता पूर्वक पूरी की जा सकती है। अन्तर की कड़ियो को जोडकर ही मन की चचलता को मिटाया जा सकता है, ऐसा मेरा मानना है। बाहर के साधन मन पर मार कर सकते है, मगर उसकी चचलता को रोक नही पायेगे। ये अन्तर की कड़ियाँ जब अरिहन्त परमात्मा के दिव्य स्वरूप चिन्तन के साथ जुडती है, तब उनका सीधा प्रभाव मन की चचलता पर पडता है। एकाग्रता ही चचलता की विपरीत स्थिति होती है। जब एकाग्रता आ जाय, तो चचलता का अभाव हो जायगा। भगवान के दिव्य स्वरूप मे मन जब एकाग्र होता है, तो स्वाभाविक रूप से उसकी चचलता समाप्त हो जाती है।

मन एक पंखा

आन्तरिकता के इस जीवन्त प्रयोग को एक दृष्टान्त से समझिये। एक छत का पखा बिजली के करंट से चल रहा है। उसकी गति कितनी तीव्र होती है, उसमे चचलता होती है। उसके चलते वक्त यदि गर्मी का तापमान बढ जाय और वह साधारण सीमा से ऊपर चला जाय तो पखे की हवा का अनुभव भी कैसा बन जायगा? मैंने तो सुना है, स्वय ने कभी अनुभव नही किया। किन्तु आप ही लोगों मे से कुछ कहते है कि वैसी स्थिति मे पखे की हवा भी इतनी ज्यादा गरम हो जाती है कि उसे सहन करना मुश्किल हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि तब पंखा बद कर देने की जरूरत पैदा हो जाती है। अब कल्पना कीजिये कि उस पखे को बंद करने का भार ऐसे आदमी पर आ गिरा है, जो यह नही जानता कि इस चलते हुए पंखे को बन्द कैसे किया जा सकता है? तब वह पहले अपने शरीर की ताकत का प्रयोग करना चाहेगा, किन्तु उसका परिणाम क्या होगा, या तो वह बिजली का झटका खायेगा या पखे की पत्तियो का धक्का खाकर शरीर के किसी अग को नुकसान पहुँचायेगा। सोचिये, वह अपने हाथ से उसे नही रोक कर किसी रस्से की सहायता से उसे रोकने की कोशिश करता है तो भी उसे सफलता नही मिलेगी। पंखा टूट तो जायेगा, किन्तु करेन्ट रहते हुए अन्य किसी विधि से वह रुकेगा नही।

किन्तु जो उसकी सही विधि को जानता है वह तत्काल उसके बटन को बन्द कर देगा और पंखा रुक जायेगा। पंखे के चलने के मुख्य कारण को जो नही समझ पाया, वह उसे बन्द भी नही कर सकेगा। बिजली का करेन्ट उस पंखे के चलने का मुख्य कारण है और उस कारण को समझ कर जो, जब चाहे, पखा चला सकता है और उसे बन्द भी कर सकता है। सूत्र छोटासा है, किन्तु जब तक चित्त मे जमे नही, तो बाधा बडी—बनकर ही हमारी सफलता के बीच मे खड़ी रहती है। आप बाहरी पखे का रूपक तो समझ गये है, किन्तु अब अन्दर के रूपक को समझने की भी कोशिश कीजिये। आपके अन्दर भी मन का पखा घूम रहा है। उस मन के पखे को पकड़ने के लिए लोग तरह-तरह की विधियाँ प्रयोग में ला रहे है। पंखे को पकड़ने की चेष्टा या रस्से से उसे रोक लेने की कोशिश को आप त्राटक कहिये, बात एक सी है। इन विधियो से मन के पखे पर कुछ चोट की जा सकती है या स्वयं के शरीर पर चोट खाई जा सकती है, किन्तु बिजली के करेन्ट के तुल्य मन के चंचल परिणामों को बन्द नही किया जा सकता है, उसके बिना मन का पखा बन्द भी नही होता। बिजली के करेन्ट के तुल्य है मन के परिणामों की चचलता और उसका बटन है आत्म-निग्रह। इसके लिए साहसिक योग कारगर बन सकता है। आत्म-निग्रह के आदेश से ही परिणामो की गति हो सकेगी। तब वह गति सार्थक रूप मे होगी। परिणामो की बिजली का करेन्ट जब नियन्त्रित गति से चलेगा, तो मन का पखा भी आवश्यक रीति से ही घूमेगा।

क्रमिक साधना

आत्म-निग्रह को प्राप्त करने के लिये नियमित साधना का क्रम बनाना होगा। चौबीस घण्टों मे से अगर एक घण्टा भर भी यह सोचा जाय कि मन रूपी पखे का बटन कहा है, और उसका उपयोग कैसे किया जा सकता है, तथा इसे जानने के बाद उस बटन को काम में लाने की कला का अभ्यास किया जाय, तो फिर कैसे सम्भव होगा कि मन का पखा मनमाने तौर पर चचल गति से घूमता ही जाय और किसी से रुके नही ? पखे का चलना फिर पखे के हाथ में नही होगा, बटन के काबू में होगा। बस इसी बटन को पाने और उसका सदुपयोग करने की स्थिति बन जाय तो समझिये कि अरिहत परमात्मा की भक्ति और सेवा का एक बहुत बड़ा भेद हाथ लग गया है। जब तक मन को समझ कर उसकी चचलता को रोकने की कला आपके हाथ मे नही आयेगी, तब तक चाहे

कितनी ही अन्य विधियो का प्रयोग करले, वास्तविक सफलता हाथ नही लगेगी।

बुनियादी तौर पर मैं यह बताना चाहता हूँ कि मन के परिणामों की चचलता को समाप्त करने के लिये पहले उन परिणामो को चचल बनाने वाले कारणो को भली-भांति समझ लेना होगा। तब बाद में उनसे सघर्ष करके उन कारणो को मिटाना पड़ेगा। ऐसे कौन-से कारण है—कौन-से निमित्त बन रहे है, जिनसे परिणाम चंचल होते रहते है ? ऐसे कौन-से ढग हो सकते है, जिनके द्वारा चंचल परिणामो के समय भी विचलित होने से रुका जा सकता है ? इस सारी प्रक्रिया को ध्यान में रख कर उन मूल भूत कारणो पर पहले अकुश लगाना होगा और वह अकुश लगेगा समीक्षण ध्यान के द्वारा ध्यान की प्रक्रिया के अन्तर्गत समीक्षण ध्यान साधना ही ऐसा स्विच (बटन) है जो मन के पखे को क्षण भर में रोक सकता है।

---

३ समीक्षण का मनोवैज्ञानिक रूप

वीतराग प्रभु श्री सुपार्श्वनाथ की प्रार्थना मे ललना शब्द का प्रयोग हुआ है और वह भी सम्बोधन के रूप में। ललना को सम्बोधित करना एक गहन अर्थ का द्योतक है और वह अर्थ है बुद्धि का समीक्षण अथवा चेतना का समीक्षण। ललना शब्द का मानव के मस्तिष्क में जो अर्थ है वह प्रायः स्त्री पर्याय से सम्बन्धित है। लेकिन यहाँ सम्बोधन समग्र आत्माओं को है, न कि सिर्फ स्त्री पर्याय वाली आत्माओं को।

जितनी भी आत्माएं है, उनके भीतर जो चेतना शक्ति है—वह शब्द स्त्रीलिंग का है, इसलिये ललना शब्द का प्रयोग किया गया है। उसी चेतना को जागृत करने के लिये साधना के विविध आयाम उपस्थित हुए है। वह आत्मा और उसकी चेतना कहाँ है, किस स्थान पर है ?—वह इन चर्म चक्षुओ से दृष्टिगत नही होती है, लेकिन उसकी प्रक्रिया सम्पूर्ण जीवन को आप्लावित कर रही है। इस जीवन में जो कुछ भी चमक है, जैसा भी व्यवहार दृष्टिगत हो रहा है, वह सब इसी चेतना का परिणाम है। इस प्रज्ञा के जागरण का नाम है—'समीक्षण ध्यान'। समीक्षण ध्यान की साधना आत्म-बुद्धि अथवा आत्म-चेतना के स्वरूप की दर्शिका है।

समीक्षण-जीवन के स्तरों का

वर्तमान परिवेश में वह चेतना अपने स्वयं के रूप मे स्थिर नही रह पाई है। उसने अपना परिवेश बदल दिया है। वह दूसरे रूप मे चल रही है। सदा से वह आवरणो से घिरी हुई है। उनके पीछे ही वह अपना कार्य कर रही है। स्वयं को स्वयं की अनुभूति नही हो रही है। इसलिये इस चेतना के लिये स्वय को पाने की दृष्टि से वर्तमान जीवन का समीक्षण आवश्यक है। वर्तमान जीवन के विभिन्न स्तरो का, विविध आवरणो तथा पर्दो का समीक्षण करेंगे तो एक दिन उस चेतना तक भी पहुँच सकेंगे। इस चेतना को ही 'ललना' के नाम से सम्बोधित किया है, इसी चेतना को जानने और समझने की आवश्यकता है।

यह शरीर, जो सबकी दृष्टि में आ रहा है, उसके और मन के बीच मे कुछ अन्तर है किन्तु दोनो मे परस्पर गहरा सम्बन्ध है। यद्यपि शरीर और मन एक दृष्टि से एक दिखाई देते है, लेकिन प्रक्रिया की दृष्टि से जब उन दोनो को देखते है, तो दोनो मे भिन्नता मालूम होती है। शरीर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति में मन को सहायता के बिना स्वय सक्षम नही होता है। शरीर पर कोई आघात पहुँचाता है और मन उसके साथ लगता है, तभी यह ज्ञात होता है कि शरीर को दु.ख या कष्ट हो रहा है। जब तक यह महसूस नही करता कि शरीर को कही आघात लगा है, तब तक अनुभव मे कष्ट का सुस्पष्ट आभास नही होता है।

उदाहरण के तौर पर आप देख सकते है कि डॉक्टर जब शरीर के किसी अवयव का आपरेशन करना चाहता है तो उस भाग मे पहले वह अमृत तत्त्व का इन्जैक्शन लगा देता है जिससे मन और शरीर के बीच के सम्बन्ध को वह शून्य बना देता है। इससे शरीर की सूचना मन तक नही जाती और डॉक्टर अपनी इच्छानुसार रोगी को बिना कोई कष्ट महसूस कराये ऑपरेशन कर देता है। मन को नही जुड़ने देने पर शरीर के साथ कैसा भी व्यवहार किया जाता है तो उसकी महसूसगिरी नही होती है। अवयव को काट देने पर भी मन से कष्ट का सम्बन्ध नही जुडता है, क्योंकि मन तक उसकी सूचना नही पहुँचती है। बीच के माध्यम की दृष्टि से आप स्वय शरीर और मन की स्थिति को समझने का रूपक ले। इस दृष्टिकोण से यह मालूम होगा कि शरीर की अवस्था अलग आवरण के रूप मे है और मन की स्थिति कुछ और है। चेतना अपना स्वरूप भूलकर मन और शरीर के चलाने से चल रही है तथा मन भी अपनी उद्दाम गति से दौड़ रहा है और अपने साथ दूसरे तत्त्वों को भी दौड़ा रहा है। यही आकर चेतना आत्म-विस्मृति की ओर उन्मुख होती है। मन का भटकाव बुद्धि, शरीर एव चेतना सबको भटकाता है।

समीक्षण : शरीर और मन के सम्बन्धों का

जहाँ तक सिर्फ मन का विषय है, वह अपना सम्बन्ध शरीर से नही जोडता है, तब तक शरीर के कष्ट अथवा उसकी अन्य प्रकार की अवस्था का अनुभव नही हो सकेगा। आप चल रहे है, अपनी धुन मे और अचानक आपको लगा कि आपका एक घनिष्ठ मित्र बहुत दिनो बाद दृष्टि मे आया है। उसे देखते ही आपका मन प्रफुल्लित हो उठा और अनुभव हुआ कि

बहुत दिनों में बिछुड़ा हुआ अनन्य स्वरूप मित्र मिल गया और सामने आ गया। आप हर्ष विभोर होकर आगे बढे। जैसे ही आपने दृष्टि फैलाई और समीप गये तो आपको ज्ञात हुआ कि वह तो आपका मित्र नही है। भ्रम हो गया, वह तो कोई दूसरा व्यक्ति है। उस समय आपके मन मे क्लान्ति आ गई—आप अपने मन में मुरझाने लगे। यह क्या हुआ? यह मुरझाना और प्रफुल्लित होना क्या सीधे शरीर से वन पड़ा है? नही, ऐसा नही हुआ। शरीर के पीछे यह मन का कार्य हुआ है। शरीर को कोई विशेष कष्ट का प्रसंग नही आया, लेकिन मन की गतिविधि का शरीर पर प्रभाव पड़ा।

मन और शरीर के सम्बन्ध परस्पर इतने प्रभावोत्पादक होते है कि इन सम्बन्धों का एक दूसरे को परिणाम भी भुगतना पड़ता है। शरीर को कोई कष्ट नही हुआ, लेकिन मित्र के मिलन-भाव से मन को जब प्रफुल्लता हुई तो शरीर भी आह्लादित हुआ और जब वह अपना मित्र नही निकला तथा मन मुरझा गया तो शरीर की आकृति भी निराश और फीकी दिखाई देने लगी। क्योकि मन के अनुभव की छाया शरीर पर पड़ जाती है। इसलिये मन का असर स्वाभाविक रूप से शरीर पर पड़ता है। मन के साथ शरीर भी प्रफुल्लित होता या मुरझाता हुआ दिखाई देता है। यह मन का अपना स्वभाव या स्वरूप है।

लेकिन इस प्रकार के मन को शास्त्रीय दृष्टि से द्रव्य मन कहा जाता है। इस मन के परिवेश में अनेक तरह के सस्कार और अनुभव होते है—विविध प्रकार की कलाएँ समाई हुई रहती है। मन की स्थिति जितने रूपों में समझी जा रही है, उतनी ही नही है। मन की स्थिति बहुत विशाल है, उसका अनुभव लेने का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। यदि मन को विधि पूर्वक साधा जाय तो इसके स्वरूप को विराट् भी बना सकते है। लेकिन इस मन की स्थिति को समझने के लिये बहुत बड़े अभ्यास की जरूरत है और ऐसा अभ्यास वर्तमान युग के मानव के पास बहुत कम रह गया है। मन और शरीर के सम्बन्धो तथा अनुभव लेने के गूढ़ रहस्यो तक नही पहुँचा जा सकता है।

समीक्षण-मन को साधने के प्रयोग

मन की गतिविधियों को नही समझ पाने के कारण ही मन के विषय में अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग प्रकार से उलझते रहते हैं।

अधिकांश व्यक्ति मन की समस्याओं से खिन्न हो जाते है कि हम धर्म-ध्यान करने बैठते है, सामायिक पौषध कर रहे है और प्रभु का ध्यान लगाने की चेष्टा करते है, लेकिन यह मन एक जगह नही ठहरता है, पल मे कही का कही चला जाता है। यह मन कहा जाता है, कहा से कहां तक दौड़ लगाता है और क्यो इतना चंचल वना रहता है—इस तथ्य की खोज मनोवैज्ञानिक दार्शनिको तथा आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ताओ ने की है।

मनोवैज्ञानिक इस मन की भिन्न वृत्तियो की खोज करने निकले, तथा उन्होने वैज्ञानिक तरीको से मन को साधने के प्रयोग भी किये। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे एडमड, फ्रायड का वडा नाम है, उन्होने वहुत कुछ रूप मे मन की गहराई मे उतर कर मन के स्वरो को खोजा, लेकिन उनकी वह खोज केवल भौतिक दृष्टि से हुई। उन्होने मन की गति का मूल मनुष्य की वासना को माना।

मनोवैज्ञानिक समीक्षण

फ्रायड ने अपने दीर्घकालीन अन्वेपण के द्वारा मन की विविध वृत्तियो की खोज की, जिन्हे उसने दो भागों में विभक्त किया : (१) कान्सियस माइण्ड (२) अनकान्सियस माइण्ड। इसके पश्चात्वर्ती मनोवैज्ञानिक युग ने कुछ और आगे वढकर एक और मस्तिष्क अथवा मनोभाव की खोज की—'कलैक्टिव अनकासियस'।

खोज का यह सिलसिला आगे वढ गया और वर्तमान मनोविज्ञान यहां तक पहुँच गया है कि उसने मनो जगत को सात मजिला मकान माना है। अर्थात् मनुष्य का जीवन सात मजिली बिल्डिग है। उसमे हम पहली मजिल मे ही जीते और मर जाते है। कोई विरला साधक ही सातो मजिलो के द्वार उद्घाटित कर जीवन के गहनतम रहस्यो का समीक्षण कर पाता है और अपरिमेय आनन्द का अनुभव करता है।

वर्तमान मनोविज्ञान द्वारा मान्य सात मजिले या सात मस्तिष्क निम्न है—(१) कान्सियस माइण्ड—चेतन मन। उसके नीचे (२) अन्कान्सियस—अचेतन मन। उसके नीचे (३) कलेक्टिव कान्सियस—समष्टि चेतना। उससे भी नीचे (४) कास्मिक अन्कान्सियस—ब्रह्म चेतन। जिस पर हम रहते है, उसके ऊपर एक मजिल है (५) सुपर कान्सियस अति चेतन। उसके ऊपर है (६) कलैक्टिव कान्सियस—समष्टि चेतन। उससे

बहुत दिनों मे बिछुड़ा हुआ अनन्य स्वरूप मित्र मिल गया और सामने आ गया। आप हर्ष विभोर होकर आगे बढे। जैसे ही आपने दृष्टि फैलाई और समीप गये तो आपको ज्ञात हुआ कि वह तो आपका मित्र नही है। भ्रम हो गया, वह तो कोई दूसरा व्यक्ति है। उस समय आपके मन में क्लान्ति आ गई—आप अपने मन में मुरझाने लगे। यह क्या हुआ? यह मुरझाना और प्रफुल्लित होना क्या सीधे शरीर से बन पडा है? नही, ऐसा नही हुआ। शरीर के पीछे यह मन का कार्य हुआ है। शरीर को कोई विशेष कष्ट का प्रसग नही आया, लेकिन मन की गतिविधि का शरीर पर प्रभाव पड़ा।

मन और शरीर के सम्बन्ध परस्पर इतने प्रभावोत्पादक होते हैं कि इन सम्बन्धों का एक दूसरे को परिणाम भी भुगतना पड़ता है। शरीर को कोई कष्ट नही हुआ, लेकिन मित्र के मिलन-भाव से मन को जब प्रफुल्लता हुई तो शरीर भी आह्लादित हुआ और जब वह अपना मित्र नही निकला तथा मन मुरझा गया तो शरीर की आकृति भी निराश और फीकी दिखाई देने लगी। क्योकि मन के अनुभव की छाया शरीर पर पड़ जाती है। इसलिये मन का असर स्वाभाविक रूप से शरीर पर पड़ता है। मन के साथ शरीर भी प्रफुल्लित होता या मुरझाता हुआ दिखाई देता है। यह मन का अपना स्वभाव या स्वरूप है।

लेकिन इस प्रकार के मन को शास्त्रीय दृष्टि से द्रव्य मन कहा जाता है। इस मन के परिवेश में अनेक तरह के सस्कार और अनुभव होते है—विविध प्रकार की कलाएँ समाई हुई रहती है। मन की स्थिति जितने रूपों में समझी जा रही है, उतनी ही नही है। मन की स्थिति बहुत विशाल है, उसका अनुभव लेने का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। यदि मन को विधि पूर्वक साधा जाय तो इसके स्वरूप को विराट् भी बना सकते है। लेकिन इस मन की स्थिति को समझने के लिये बहुत बड़े अभ्यास की जरूरत है और ऐसा अभ्यास वर्तमान युग के मानव के पास बहुत कम रह गया है। मन और शरीर के सम्बन्धों तथा अनुभव लेने के गूढ़ रहस्यो तक नही पहुँचा जा सकता है।

समीक्षण-मन को साधने के प्रयोग

मन की गतिविधियों को नही समझ पाने के कारण ही मन के विषय मे अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग प्रकार से उलझते रहते है।

अधिकांश व्यक्ति मन की समस्याओ से खिन्न हो जाते है कि हम धर्म-ध्यान करने बैठते है, सामायिक पौषध कर रहे है और प्रभु का ध्यान लगाने की चेष्टा करते है, लेकिन यह मन एक जगह नही ठहरता है, पल मे कही का कही चला जाता है। यह मन कहा जाता है, कहा से कहां तक दौड़ लगाता है और क्यो इतना चचल वना रहता है—इस तथ्य की खोज मनोवैज्ञानिक दार्शनिको तथा आध्यात्मिक विज्ञानवेत्ताओं ने की है।

मनोवैज्ञानिक इस मन की भिन्न वृत्तियों की खोज करने निकले, तथा उन्होंने वैज्ञानिक तरीकों से मन को साधने के प्रयोग भी किये। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे एडमड, फ्रायड का वडा नाम है, उन्होने बहुत कुछ रूप मे मन की गहराई मे उतर कर मन के स्वरो को खोजा, लेकिन उनकी वह खोज केवल भौतिक दृष्टि से हुई। उन्होने मन की गति का मूल मनुष्य की वासना को माना।

मनोवैज्ञानिक समीक्षण

फ्रायड ने अपने दीर्घकालीन अन्वेपण के द्वारा मन की विविध वृत्तियो की खोज की, जिन्हे उसने दो भागों मे विभक्त किया : (१) कान्सियस माइण्ड (२) अनकान्सियस माइण्ड। इसके पश्चात्वर्ती मनोवैज्ञानिक युग ने कुछ और आगे वढकर एक और मस्तिष्क अथवा मनोभाव की खोज की—'कलैक्टिव अनकांसियस'।

खोज का यह सिलसिला आगे वढ गया और वर्तमान मनोविज्ञान यहा तक पहुँच गया है कि उसने मनो जगत को सात मजिला मकान माना है। अर्थात् मनुष्य का जीवन सात मजिली विल्डिग है। उसमे हम पहली मजिल में ही जीते और मर जाते है। कोई विरला साधक ही सातो मंजिलो के द्वार उद्घाटित कर जीवन के गहनतम रहस्यो का समीक्षण कर पाता है और अपरिमेय आनन्द का अनुभव करता है।

वर्तमान मनोविज्ञान द्वारा मान्य सात मंजिले या सात मस्तिष्क निम्न है—(१) कान्सियस माइण्ड—चेतन मन। उसके नीचे (२) अन्कान्सियस—अचेतन मन। उसके नीचे (३) कलेक्टिव कान्सियस—समष्टि चेतना। उससे भी नीचे (४) कास्मिक अन्कान्सियस—ब्रह्म चेतन। जिस पर हम रहते है, उसके ऊपर एक मजिल है (५) सुपर कान्सियस अति चेतन। उसके ऊपर है (६) कलैक्टिव कान्सियस—समष्टि चेतन। उससे

भी ऊपर (७) कास्मिक कान्सियस—ब्रह्म चेतन। जहा हम रहते है उससे ऊपर तीन और नीचे तीन मजिले है।

मनोविज्ञान की खोज में—मन के गूढ़ स्वरूप की तह में इससे अधिक गहरा प्रवेश नही किया जा सका।

लेकिन वीतराग देवों ने अपने जीवन को सर्वोच्च स्तर तक ऊपर उठाया तथा मन की गहरी से गहरी थाह ली—मन की शक्ति को उन्होने मूल तक पहिचाना। मन की विभिन्न परतों को उन्होने उद्घाटित किया तथा मन के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान किया। गहराई तक मन का पता लगाकर उन्होने निर्णय दिया कि यह चेतना, जिसकी दिखाई देने वाली स्थूल क्रियाओ को दुनिया देखना चाहती है, शरीर तक ही सीमित नही है। यह चेतना शरीर से बहुत ऊँची है और शरीर से वहुत महान् है। उन्होंने जाना और देखा कि द्रव्य-मन साधन है, कठपुतली के समान है। वे इस द्रव्य-मन से भी बहुत ऊपर उठे। उन्होने भाव-मन का अनुभव लिया और अपनी अन्तश्चेतना के दर्शन किये। मन के समस्त विकारो को परास्त कर दिया और वे विशुद्ध चितन में निज स्वरूप को प्राप्त करके सदा-सदा के लिये परम आनन्दमय वन गये। ऐसी आनन्दमयी आत्माएँ 'जिन' शब्द के सम्बोधन से पुकारी गई। जिनको 'जिन' भगवान् कहते है, वे ऐसी ही आत्माएँ है।' जिन्होने अपने आन्तरिक शत्रुओं को जीत कर अरिहन्त पद प्राप्त कर लिया। इन्ही अरिहन्तो ने साधनावस्था मे मन की सम्पूर्ण खोज की, मन को साधने के लिये अनेक उपाय प्रयोग मे लिये तथा श्रेष्ठ और सफल उपायों का ससार को निर्देश दिया। वही वाणी आज हमारे ज्ञान और कर्म का प्रधान सम्बल है।

आवरणों का समीक्षण और उद्घाटन

जितने 'जिन' भगवान् हुए है तथा है, उन सवको सुख तथा सम्पत्ति के हेतु वतलाया गया है। यह सुख और सम्पत्ति का जो उल्लेख किया गया है, मैं समझता हूँ कि इसके द्वारा अपने मन के विभिन्न आवरणों को ही देखने, उन आवरणों को समाप्त करने की दृष्टि से जमाने की ही कोशिश की गई है।

यह मन का विपय ऐसा है कि यदि सम्यग्विधि से समीक्षण किये विना इसे लक्ष्य की तरफ मोड़ने की कोशिश की जाती है तो मन वहाँ मे

दूर-दूर भागने की चेष्टा करता है। याद रखिये, जब तक मन के विषय को गहराई से नही समझेंगे तब तक मन पर नियन्त्रण नही साधा जा सकेगा। मनो नियन्त्रण के अभाव मे परमात्मा को विधि पूर्वक वन्दन भी नही कर पायेगे, जिस वन्दन को कवि ने सुख और सम्पत्ति का हेतु बताया है। इस दृष्टिकोण से ही मै वर्तमान मन की वृत्तियों से ऊपर उठने का संकेत दे रहा हूँ। इस मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दृष्टि को आप ध्यान पूर्वक सुने तथा उस पर चिन्तन-मनन करे।

अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तथा सासारिक विषयो मे आसक्ति रखते हुए इस आत्मा मे निज स्वरूप की प्रतीति के प्रति सज्ञाहीनता सी आ गई है और उसके कारण इस मन पर भी कई पर्दे चढ गये है—कई आवरण आ गये है। मन उन आवरणो मे ही अपनी स्वरूप संज्ञा लेने लगा है। इस द्रव्य मन की गति भी भाव मन के निर्देशन के बगैर नही होती है। मनुष्य उच्चारण करता है कि मै परमात्मा के तुल्य हूँ लेकिन उसका उच्चारण द्रव्य मन के आधार पर होता है, परन्तु भाव मन के बिना ही। सही स्वरूप दर्शन तो आन्तरिक अनुभव के साथ जब भीतर की गहराई मे पहुँचते है तभी होता है और तभी वस्तुस्थिति सामने आती है। इतनी आन्तरिकता मे उतरने को ही समीक्षण की परम अवस्था कहा जाता है। जहाँ पहुँचकर 'जिन' के स्वरूप की उपलब्धि होती है।

बात बहुत गहन है, आप स्वय को इस गहनता की स्थिति मे कैसे ले जायेंगे ? एक छोटा-सा रूपक ले लीजिये। यह रूपक लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का है। एक वृक्ष के नीचे एक पुरुप बैठा हुआ था। एक सामुद्रिक विज्ञान मे निपुण व्यक्ति उधर से निकल रहा था। सामुद्रिक विज्ञान मे इस बात का वर्णन होता है कि शरीर के कौन-कौन से चिह्न किस-किस बात की सूचना देते है ? उस सामुद्रिक ज्ञाता की दृष्टि जमीन की तरफ थी। जमीन पर उसको कुछ पैरो के चिह्न दिखाई पड़े। वह हर्षित हो उठा। वे चिह्न किसी विशिष्ट पुरुष के पैरो के थे। वह चक्रवर्ती सम्राट् भी हो सकता है—उसने सोचा। वह प्रसन्न हुआ कि यदि उसकी विद्या सही है तो आज मार्ग मे चक्रवर्ती सम्राट् से उसकी भेट जरूर होगी। उनके शारीरिक चिह्नो से वह उन्हे और कुछ बता देगा तो उसका भाग्य खुल जायेगा।

वह सामुद्रिक प्रसन्नता पूर्वक आगे बढने लगा। यकायक उसे विचार

ग्राया कि क्या सम्राट् पैदल जायेंगे ? वे बिना वाहन के कैसे जा सकते है ? अब उसके मन मे सशय पैदा हुग्रा। खुले पैरो के चिह्न चक्रवर्ती के कैसे हो सकते है ? उसका मन डगमगाया ग्रौर शंका करने लगा कि क्या उसकी विद्या सही नही है ? यहाँ तक कि उसे वे पैरों के निशान किसी मामूली मजदूर के मालूम पड़ने लगे ग्रौर उसकी इच्छा हुई कि वह ग्रपने पोथी-पन्नों को कुए में फैंक दे। वह दुविधा मे फँस गया। उस वृक्ष के समीप वह पहुँचा तो उसे वह पुरुष दिखाई दिया, जो सादे वेश में फक्कड तबियत का लग रहा था। शरीर की ग्राकृति ग्राकर्षक, किन्तु परिवेश से गरीब साधारण मालूम पडता था। पास मे एक भिक्षा पात्र पड़ा हुग्रा था। उसने मन ही मन पहले दोनों पैरों के चिह्नों से उसके पास जमे पैरों के चिह्नों का मिलान किया, उसको ऐसा लगने लगा कि उसने कैसे सामुद्रिक विज्ञान का ग्रध्ययन किया है ? वह चिन्ताग्रस्त बन गया। उसकी चिन्तित मुद्रा को देखकर उस सन्त ने ग्रावाज दी—ग्ररे तू चिन्तित क्यो है ? मेरे पास ग्रा। उसने उत्तर दिया—तुम मेरी समस्या को क्या समझोगे ? तुम तो साधारण से भिखारी मालूम पड़ते हो। फक्कड़ सन्त ने गम्भीरता से कहा—क्या पता, समस्या का हल ही निकल जाय। ग्राग्रो तो सही।

सामुद्रिक ने सारी बात पूरी तरह से समझाकर उस महात्मा को कही। महात्मा ने कहा—तुम्हारा चिन्तन सही दिशा मे है। तुम्हारा यह ग्रनुमान सही है कि ऐसे पदचिह्न वाला पुरुष चक्रवर्ती हो सकता है। तुम्हारा सामुद्रिक ज्ञान इस ग्रर्थ मे गलत नही है। लेकिन वर्तमान की स्थिति को समझने में ही तुम भूल कर रहे हो। ग्रपनी ग्रोर सकेत करते हुए उस फक्कड़ महात्मा ने ग्रागे कहा—यह शरीर उसी क्षेत्र मे जन्मा था जहाँ चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का ग्रवसर था। लेकिन इस जीवन मे कुछ वोध हुग्रा, शरीर की बाहरी प्रकृति का समीक्षण किया तथा भीतरी मन के विभिन्न ग्रावरणों को समझने का प्रयास किया तो मुझे वह चक्रवर्ती सम्राट् का पद एकदम फीका लगने लगा। मैंने उसे पाने का उपक्रम छोड़ दिया, क्योकि वह कल्याणकारक नही है। मुझे लगा कि मुझे इसमे श्रेष्ठ पद की खोज करनी चाहिये, जो चक्रवर्तियो का भी चकवर्ती हो ग्रौर मै इस ग्राध्यात्मिक जीवन की तरफ मुड़ गया। मैंने उस चक्रवर्ती पद को पाना ग्रभीष्ट नही समझा। मैने सोचा कि इस ग्रात्मा ग्रौर मन पर पहले से ही कई पर्दे पड़े हुए है—फिर एक नया पर्दा ग्रौर क्यो चढ़ाऊँ ? इससे

तो अच्छा यही है कि जो पर्दे पडे हुए है उन्हे और अन्य आवरणों को उदघाटित करूँ। वह समुद्र-शास्त्र का विद्वान् उस फक्कड़ को आंखे फाड़-फाड कर देखने लगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो मन के विभिन्न आवरणों का समीक्षण कर लेता है, वह ससार के बडे से बडे वैभव का भी सहज भाव से परित्याग कर देता है, क्योकि वह तो अविनाशी सुख सम्पत्ति को पाना चाहता है। इसलिये वह मन के इन आवरणो का समीक्षण और उद्घाटन करता है तथा शुद्ध चेतना का परम शुद्ध स्वरूप मे दर्शन करता है।

समीक्षण अविनाशी का

भक्ति-साधना मे आमतौर पर यह माना जाता है कि भगवान् को वन्दन करने से सुख सम्पत्ति मिलती है। अधिकाश लोगो के मन मे यही भावना चलती होगी। क्या इस सुख सम्पत्ति को आप इस बाहर दिखाई देने वाली सुख सम्पत्ति के रूप मे देखना चाहते है ? यदि ऐसा है तो समझिये कि यह एक गलत चाह है। इस सुख सम्पत्ति को आज की भौतिक सुख सम्पत्ति के रूप मे न देखे। अपने मन मे पहले यह निश्चय करे कि आप नाशवान् सुख सम्पत्ति को चाहते है या अविनाशी सुख सम्पत्ति को ? यदि अविनाशी सुख सम्पत्ति को चाहते है तो वह एक बार आपको मिल जाने के वाद सदा-सदा के लिये आपके साथ में ही रहेगी। ऐसी अवस्था मे न चाहने पर भी नाशवान् सम्पत्ति भी अविनाशी सम्पत्ति के पीछे-पीछे छाया की तरह चलेगी। आपको ऐसे सुख सम्पत्ति वाले विशिष्ट पुरुषो के चरित्र सुनने को मिले होगे और उनसे आपको प्रेरणा मिली होगी कि वास्तविक सुख सम्पत्ति की प्राप्ति का प्रयास ही किया जाना चाहिये।

आन्तरिक चेतना जब सजग बन जाती है तो उसे यह बाहर की नाशवान् सम्पत्ति मूल्यहीन दिखाई देती है। त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण के भाई गजसुकमाल ने जागृत बनकर जब दीक्षित होने का निश्चय किया तो किसी के भी कहने से वे रुके नही। उनमे उमंग समा गई कि इस नाशवान् सम्पत्ति का मोह छोड कर अविनाशी सुख सम्पत्ति प्राप्त करने की दिशा में आगे बढना चाहिये, ताकि वह सम्पत्ति कभी नष्ट नही हो और सदा के लिये आत्मा को आनन्दमय वनाये रखे और वे उस अविनाशी सम्पदा के महा खजाने को प्राप्त करने, उसका द्वार उद्घाटित करने हेतु

निकल पड़े—कठोरतम साधना पथ पर। इस उमंग को जीवन्त बनाने वाली आत्माएँ अबाध सुख व महान् और विशिष्ट स्थान को प्राप्त करती है।

आपको भी सुख सम्पत्ति चाहिये और यह विश्लेषण करने के बाद तो आप भी यही कहेंगे कि हमको भी अविनाशी सुख सम्पत्ति चाहिये। जिसका विवेक जग जाता है वह श्रेष्ठ वस्तु ही ग्रहण करना चाहेगा। आम को छोड़कर जो निम्बोली के पीछे भागता है, उसको दुनिया अक्लमन्द नहीं कहती है। जिन आत्माओं ने अविनाशी सम्पत्ति को प्राप्त करने का संकल्प किया है, वे समीक्षण ध्यान की साधना का पाथेय लेकर ही आगे बढ़ी है। समीक्षण ध्यान के साधक संसार के सारे लुभावने वायुमण्डल से ऊपर उठकर महावीर प्रभु के आध्यात्मिक अनुशासन में समर्पित होने को संकल्पित होते है, ताकि वे अपनी आत्मिक साधना में तत्पर बन सके। वे अपने अभ्यास के साथ स्वस्थ जीवन निर्माण का इच्छुक होकर नाशवान् सम्पत्ति को छोडते है, और अविनाशी सुख सम्पत्ति को प्राप्त करने की अभिलाषा से दीक्षित बनते है। आपको भी तो सुख सम्पत्ति चाहिये न? आप भी इस दिशा मे आगे बढ़ने के लिये कुछ न कुछ तो ठोस कार्य अवश्य करें।

विकारपूर्ण वातावरण से मन को अप्रभावित बनावें

अधिकांश मानव आज भौतिक जीवन की दूषित प्रणाली मे बह रहे है। मै समझता हूँ कि रेतीले प्रदेश मे तेज हवाएँ चलने के कारण रेती के कण काफी उड़ते है और धूल भरी आँधियाँ उठती है। रेत के टीबे के टीबे इधर से उधर उड़ जाते है। जैसे ये रेत की आंधियाँ चलती है, वैसा ही इस सांसारिक जीवन का प्रसंग है। चारों ओर तरह-तरह के विकारो की धूल भरी आंधियां चलती है। सिनेमा घरों से वासना का अन्धड़ निकलता है। कामुक साहित्य और जासूसी उपन्यासों के गन्दे नाले बहते है। इस विकारपूर्ण वातावरण मे कौन आत्मा कितनी उलझती है—कितनी रचती-पचती है, उसी आधार पर मन का समीक्षण किया जा सकता है कि वह कितना उद्दण्ड है या कि कितना सधा हुआ? देखते हैं तो ज्ञात होता है कि अधिकांश तरुण-तरुणियां इस विकारपूर्ण वातावरण मे उलझी हुई है। कई-कई आत्मा तो इस विकार के दलदल में इतनी गहरी धँस जाती है कि उनका उससे बाहर निकल आना भी दुष्कर कार्य हो जाता है।

रेगिस्तान मे जो वृक्ष होते है, वे इन धूल भरी आंधियों को भी सहन करते है, किन्तु अपने स्थान से डिगते नही है। वैसे ही जो आत्माएं अपने चैतन्य स्वरूप के समीक्षण मे और उसे चमकाने के लिये सुदृढ-सकल्पी बन जाती है, वे इन वृक्षों के समान अपने मन को सारे विकारपूर्ण वातावरण से अप्रभावित बना लेती है। यह कार्य ही मन की साधना है—मन को वश मे करना है तथा मन को आत्मा के अधीन बनाकर आत्म-विकास के पथ पर चलाना है। समझिये कि एक अकेला मन सध जाता है तो सब कुछ सध जाता है—सारा जीवन सध जाता है और जब यह जीवन सध जाता है। तो इहलोक के साथ परलोक भी सध जाता है। आप इन बहिनों को देख रहे है—सन्त, सती वर्ग के दर्शन कर रहे है, जो समीक्षण साधना के लिए जीवन को लेकर चल रहे है। इनके जीवन उन वृक्षो के समान है जो विकारपूर्ण ऑधियों के प्रभाव से अविचलित बने रहने का अभ्यास कर रहे है। यह अभ्यास मन को साध लेने की दिशा मे चल रहा है।

मन को साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।

इस मानव जीवन मे यदि मन को सम्यक् रीत्या स्वाधीन बना लेते है तो आशा की जा सकती है कि उस स्वाधीन मन के चरण पूर्णतः स्वाधीन आत्मा की मजिल तक अवश्य पहुॅचेगे। एक लक्ष्य नही बनावे और चारो ओर की प्रवृत्तियो मे लगे रहे तो शायद यह उक्ति सच साबित हो जाय कि "सब साधे सब जाय"। इसलिये आत्मिक साधना के माध्यम से जीवन की तह तक पहुॅचने का प्रयास कीजिये। यह साधना का क्षेत्र एक तरह से जीवन की तह तक पहुॅचने की पाठशाला है। इसमें कौन-कौन प्रवेश कर रहे है ? महान् संकल्पशील, समीक्षण ध्यान साधना की गहराई मे पैठने वाली साधक आत्माएॅ ही। समीक्षण मे मन तत्पर होता है तभी ऐसा हो सकता है और मन के समीक्षण से ही मन सधता है।

मन को साधने का यह आध्यात्मिक जीवन लोहे के चने चवाने के समान है, लेकिन इनको भी चवाने की साधना कर लेगे तो ये लोहे के नही रहेगे, अमृत कण बन जायेगे। मूल वात समझले कि—"मन को साधे सब सधै"।

□□

४ जीवन-यात्रा का समीक्षण

जीवन-यात्रा का समीक्षण

जब कभी किसी प्रकार की यात्रा का प्रारम्भ होता है तो उस पर सहज ही चिन्तन चलता है – यात्रा कितनी लम्बी है, उसका गतव्य स्थान कैसा और कितना दूर है, मार्ग किस प्रकार का है, पैरो की गति कितना काम देगी किस तरह के वाहन की आवश्यकता होगी आदि कई बाते ऐसी होती है जिन पर यात्री विचार करता है तथा अपनी गति एव प्रगति के अनुसार यात्रा के कार्यक्रम का निर्धारण करता है। यदि दृढ सकल्प और उत्साह के साथ चिन्तन करके तदनुरूप व्यवस्था बिठाकर यात्री अपनी यात्रा पर प्रस्थान करता है, तो यह आशा रखी जा सकती है कि उसकी यात्रा सफल होगी। क्योंकि मार्ग में यदि विघ्न भी आये तो वह सफलता-पूर्वक उनका मुकाबला कर सकेगा।

यात्रा का ऐसा मनोविज्ञान, समीक्षण की महत्तम साधना के द्वारा ही हो सकता है, और वही उसकी पूर्ण सफलता का लक्षण होता है। छोटी-मोटी यात्राएँ तो ठीक है, लेकिन यह पूरा मानव जीवन भी स्वय एक यात्रा ही है। इसे जीवन की यात्रा कह सकते है। इस जीवन की यात्रा पर पूर्ण रूप से सुदृढ सकल्प, सत्साहस तथा सुन्दर सदाशय के साथ जो चल पड़ता है, वह जीवन की पूर्णता को प्राप्त करता है।

यात्रा का समीक्षण बनाम लक्ष्यानुरूप यात्रा

इस जीवन की यात्रा का श्रीगणेश कव और कहाँ से हुआ है, यह एक जटिल प्रश्न है और सदियो से चला आ रहा है। किन्तु इसका उत्तर उतना जटिल नहीं है। वैसे तो जब से सृष्टि है, जीवात्मा की यात्रा गति-शील है ही, किन्तु मुख्य तौर पर जिस क्षण आत्मा इस मानव शरीर के चोले में आई है, तभी से जीवन-यात्रा का आरम्भ हो चुका है। यह यात्रा

किस प्रकार चल रही है, किस दिशा मे चल रही है ? यह समीक्षण दृष्टि से चिन्तन का विषय है। यात्रा की मूलगामी भावना यह है कि यात्रा लक्ष्यहीन नही हो। कोई निरर्थक और निरुद्देश्य घूमता रहे तो उसको यात्रा नही कहते है। यात्रा का एक पूर्व निर्धारित लक्ष्य होता है। किन्तु वह लक्ष्य अविचारित नही होना चाहिये। जीवन का वास्तविक धर्म क्या है और उसके अनुसार सच्चा, लक्ष्य क्या होना चाहिये इसका वीतराग देवो की वाणी तथा आत्मा-समीक्षण के आधार पर निर्णय लेना चाहिये।

जब श्रेष्ठ और स्पष्ट लक्ष्य सामने होगा तो दिशाभ्रम नही होगा। ऐसी अवस्था मे पथ भ्रष्टता की भी सभावना कम रहती है। पथ पर गति बनी रहे और लक्ष्य दृष्टि मे हो तो पथ की बाधाएँ एक दृढ सकल्पी व्यक्ति के सामने अवरोधक नही बन सकती है। वह अविचल गति से आगे बढता जाता है, क्योकि उसकी गति की रूपरेखा स्पष्ट होती है। यह एक सफल यात्रा की पृष्ठभूमि होती है।

बाहरी यात्राओ को देखते हुये यह स्पष्ट हो जाता है कि एक देश से दूसरे देश की यात्रा करने वाले यात्री पहले निश्चय करते है—जैसा कि मुझे यहाँ से कलकत्ता जाना है और कलकत्ता मे भी अमुक सडक पर अमुक मकान या दुकान पर जाना है। फिर वाहन का निर्धारण करते है कि कहाँ से कहाँ तक बस मे जाना होगा, फिर रेल मे और फिर टैक्सी आदि मे जाना होगा। तब यात्री वैसा टिकिट खरीदते है और सुविधा हो तो स्थान का अग्रिम आरक्षण भी करवाते है। मार्ग मे भोजन आदि की भी व्यवस्था कर लेते है। इतनी पृष्ठभूमि बना लेने के बाद क्या आपको कोई शका रहती है कि आप कलकत्ता नही पहुँच सकेगे। आप शकाहीन मन से रवाना होते है और प्राय: यथासमय यथास्थान पहुँच जाते है। ऐसी ही पृष्ठभूमि और ऐसी ही सुव्यवस्था अन्तर जीवन की यात्रा के लिये हो तो उसमे कौनसी शक्ति बाधा डाल सकती है ? गति की रूपरेखा स्पष्ट हो तो यात्रा मे प्रगति होगी ही।

अन्तरंग और बाह्य यात्रा का समीक्षण

इन बाहरी यात्राओ का रूप बाह्य होता है और जीवन यात्रा का रूप आभ्यन्तर। बाहर की बात को देखना, समझना और उसका अनुसरण करना आसान होता है, लेकिन इस जीवन यात्रा के आन्तरिक स्वरूप को

समझना, आत्म-लक्ष्य को स्थिर रखना समीक्षण की समुज्ज्वल साधना पर आस्था का दृढीभूत होना तथा आत्मोन्नति की राह पर प्रगति करना— यह सब कठिन साधना का वस्तुविषय होता है। जीवन की अन्तरंग यात्रा एवं बाहरी यात्राओ की वास्तविकता में काफी अन्तर होता है। हाँ, दोनों के मनोविज्ञान में बहुत कुछ समता देखी जा सकती है।

बाहरी यात्रा की दृष्टि से वाहन का भी सयोग होता है और आज-कल तो हकीकत में पैरों को इतना कष्ट नही दिया जाता। अन्य वैज्ञानिक साधन भी इतने विकसित हो गये है कि आज के ज्ञात संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक मनुष्य उन साधनों के द्वारा सहज ही पहुँच सकता है। यही नहीं, आधुनिक साधनों के माध्यम से गगन में भ्रमण भी चालू हो गया है। आकाश में रॉकेटों और आकाश यानों के जरिये वह बहुत ऊँचाई तक चले जाने का दम भरता है, लेकिन जाने के बाद लौट कर वापिस यही आ जाता है तो वह कैसी यात्रा हुई ?

इस प्रकार की यात्रा संसार का कौन प्राणी नही करता है ? प्रत्येक प्राणी के पास रॉकेट नही है, लेकिन यह आत्मा अनादि काल से चतुर्गति में यात्रा कर ही तो रही है। विविध योनियों मे उसकी यात्रा चलती है और लौट-लौट कर उन्ही योनियों में वह पहुँचती रहती है। सांसारिकता में ही जिनका मन रच पच गया है, वे भले ही संसार परिभ्रमण की यात्राओ मे तुष्टि का अनुभव करते हों, लेकिन ज्ञानियो की दृष्टि मे वह तुष्टि का विषय नही है। सन्तोष की स्थिति नही है। वह एक भ्रान्ति है और विगति है।

ऐसी यात्रा तो घानी का एक बैल भी प्रतिदिन करता है। सुबह ही सुबह तेली बैल की आँखो पर पट्टी बाँधकर उसको घाणी मे जोत देता है। तब से वह चलना शुरू करता है और दिन भर बराबर चलता रहता है। बैल मन में खुश होता है कि दिन भर में उसने बहुत लम्बी दूरी तय करली है, लेकिन हकीकत क्या होती है ? शाम को जब उसकी आँखों पर से पट्टी खोली जाती है तो उसको दिखाई देता है कि वह तो उसी स्थान पर खड़ा है, जहाँ से उसने सुबह प्रस्थान किया था। तब उस बैल की भावना पर तुषारापात हो जाता है कि उसकी यात्रा का क्या हाल रहा ? तब वह बैल खुश होगा या पश्चात्ताप करेगा ? करीब-करीब यही दशा

आज के आम इन्सान को है। कहावत है—"ज्यो घाणी के बैल को घर ही कोस पचास।"

यह तो शरीर की यात्रा है, ऐसी बाहरी यात्राएँ इतनी महत्त्वपूर्ण नही होती है। वस्तुतः महत्त्वपूर्ण होती है आध्यात्मिक क्षेत्र की यात्रा और जीवन के आन्तरिक विकास की यात्रा।

मन-वाहन का समीक्षण

इस जीवन यात्रा में यात्री है यह आत्मा, जिसको आध्यात्मिक क्षेत्र की यात्रा करनी है तथा सिद्ध अवस्था के गतव्य तक पहुँचना है। आध्यात्मिक जगत् मे जिस आत्मा का गमन होता है, उस आत्मा का लक्ष्य ओझल नही होता है। आध्यात्मिक मार्ग कोई एक गोल घेरा नहीं होता है जिसके चारों ओर चक्कर लगालें या एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक पहुँच जावे। यह आध्यात्मिक क्षेत्र की यात्रा जीवन समीक्षण की यात्रा होती है। इस यात्रा की ओर ही मानव के चरण गतिशील होने चाहिये, ताकि वह इस जीवन की यात्रा मे प्रगतिशील बन सके।

बाहर की यात्रा के तुलनात्मक दृष्टिकोण से कोई यह प्रश्न कर सकता है कि इस आध्यात्मिक यात्रा के लिये क्या किसी वाहन की आवश्यकता होगी? इधर शास्त्रीय दृष्टि से आप सुनते है कि जो आध्यात्मिक क्षेत्र मे परिपूर्ण भाव से प्रविष्ट होकर, साधु बनकर चलने की कोशिश करते है, वे तो वाहन का सर्वथा परित्याग कर देते है और पैदल विहार करते है, फिर आध्यात्मिक यात्रा मे कौन से वाहन की आवश्यकता हो सकती है?

इस आध्यात्मिक क्षेत्र की दीर्घगामी यात्रा मे प्रारम्भ में मन व इन्द्रियाँ वाहन के रूप मे उपयोगी सिद्ध होती है। यथा कर्णेन्द्रिय के विषय का ग्रहण होते समय अच्छे या बुरे शब्दो के प्रति राग-द्वेष की निवृत्ति पूर्वक शब्द-श्रवण मे कर्णेन्द्रिय वाहन के रूप मे हो जाती है। नेत्र के विषय मे अनासक्त भाव के साथ पदार्थों का अवलोकन करते हुए चक्षुरिन्द्रिय वाहन के रूप मे सिद्ध हो जाती है। घ्राणेन्द्रिय का विषय प्राप्त होने पर भी निंदा एव जुगुप्सा से रहित नासिका का प्रयोग होने पर वह नासिका वाहन की सज्ञा को प्राप्त होती है। रसनेन्द्रिय से खाद्य सम्बन्धी पदार्थों के उपलब्ध होने पर भी स्वाद-जायके मे समभाव को रखना तथा वचन

सम्बन्धी कर्कशकारी, कठोरकारी, निश्चयकारी, हिसाकारी, छेदकारी, भेदकारी, पर जोवों को पीड़ाकारी सावद्य सपापकारी आदि वाचा के इन अष्ट दोषों से विहीन वाली, हित, मित, मधुर तम वाचा का प्रयोग करने वाली जिह्वेन्द्रिय वाहन की श्रेणी में सम्मिलित हो जाती है। शीतोष्णादि अनुकूल प्रतिकूल स्पर्शो के विषयो में रति-अरति भावो से रहित स्पर्शो को सहन करने पर स्पर्शेन्द्रिय भी वाहन में सहकार प्रदान करने वाली बन जाती है।

मन सभी इन्द्रियों को सहायता प्रदान करता है। उनके द्वारा प्राप्त विषयों पर सकल्प-विकल्पादि के माध्यम से भौतिक पदार्थो की ललक में रात-दिन, रचा-पचा रहता है। उन्ही की लंबी चौड़ी तृष्णा की जाल का ताना-बाना बुनता रहता है। जब मन की वृत्तियो में समीक्षण दृष्टि का प्रवेश होता है, तब ये मन के आल जजाल, पंपाल सारे भागते हुए दृष्टि-गत होते है। जैसे सूर्य की किरणो के आते ही अधकार छिन्न-भिन्नता को प्राप्त हो हट जाता है एवं अधकार परिपूर्ण गली मे भी सूर्य की किरणों से गंध भी उड़ जाती है, वैसे ही समीक्षण दृष्टि की किरणें मन के अंधकार को विछिन्न करती हुई इन्द्रियों के विपय रूपी गदगी को भी शुष्क वना देती है और साधना का प्रारम्भ मन और इन्द्रियो से सम्पन्न होने लगता है और अन्त में इस आध्यात्मिक क्षेत्र की दीर्घगामी यात्रा मे आत्मा ही आत्मा का वाहन होती है।

आत्मा मन के घोड़े पर वैठकर सुखद एव शीघ्रगामी यात्रा करती है अथवा आगमिक भाषा मे कहें तो—

"सरीर माहुनावुत्ति जीवो वुच्चई नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, जतरन्ति महेसिणो॥"
उत्तरा० सू० अ० २३

अर्थात् यह शरीर एक नौका के समान है और जीवात्मा नाविक है। यह सम्पूर्ण संसार एक समुद्र है जिसे महर्षि-आत्माएँ पार करती है। आगम मे जल यात्रा का यह सुन्दर रूपक दिया गया है।

आप सिर्फ स्थूल तत्त्वो की विचारणा तक ही सीमित नही रहे। भीतर के विराट् क्षेत्र में भी प्रवेश करे तो आपको ज्ञात होगा कि वहाँ किसी भी वाहरो वाहन की आवश्यकता नही होती है। वाहरी वाहन

ग्रहण करने वाले तो उल्टे मार्ग से भटक जाते है। भीतर चलने के लिये भीतर का ही वाहन चाहिये। शीघ्रगामी से शीघ्रगामी रॉकेट जो स्थूल यंत्रों से बने होते है और उनकी शक्ति बहुत ही सीमित होती है लेकिन भीतर का जो वाहन है, उसकी शक्ति असीम होती है—उसकी क्षमता अपार होती है। उस भीतर के वाहन पर ज्ञानपूर्वक आरूढ हो जावे तो वह वाहन गतव्य स्थान पर पहुँचा सकता है। प्रश्न यही है कि उस वाहन पर आरूढ होने की कला सीखे और वह कला है समीक्षण ध्यान योग की—आत्म समीक्षण की अथवा अपने विराट् सामर्थ्य के समीक्षण की।

एक मनमौजी स्वभाव का राजा अपने अनुचरो के साथ राज्य सभा मे वैठा हुआ था। तभी सबकी दृष्टि एक अश्वारोही की तरफ गई। वह घुड़सवार कोई विदेशी था। वह घोडे को साथ लेकर ठेठ राज्य सभा में घुस आया। सबने आश्चर्य प्रकट किया कि यह बिना किसी खयाल के घोडे समेत यहाँ तक कैसे चला आया है? निर्भयता से वह सबके बीच मे आकर खडा हो गया। दीवान ने प्रश्न किया—घोडे समेत यहाँ आ जाने का क्या कारण है? वह बोला—मै दुनिया में बहुत घूमा हूँ। कई राजाओ के सामने भी गया, लेकिन मेरी समस्या का हल नही निकला। मैंने आपके राजा साहब की तारीफ सुनी, इसलिये यहाँ चला आया हूँ। मै इस घोडे को कभी भी अलग नही करता हूँ इसलिये इसके समेत मुझे यहाँ आना पडा है। आप जरा मेरे इस अश्व को देखिये।

सभी सभासद बारीक नजर से उस अश्व को देखने लगे। उस अश्व का रूप रग, उसके शरीर की पुष्टता और उसका लावण्य अनुपम था। ऐसा अश्व किसी ने पहले नही देखा था। उस विदेशी ने कहा कि जो कोई इस अश्व पर सवारी कर ले तो उसको मै यह अश्व विना मूल्य दे दूगा। लेकिन इस पर वही व्यक्ति सवारी करने की कोशिश करे जिसको अश्वारोहण की कला आती हो।

जितने लोग राज्य सभा मे वैठे हुए थे, उस घोड़े पर सवारी करने के लिये उन सभी का मन मचल उठा। महाराजा का भी मन हुआ, मगर वे अपने आपको कुशल नही समझते थे। तब उन्होने अपने राज्य के कुशल अश्वारोहियो की तरफ अपनी नजर दौड़ाई। अश्वारोही विनम्र थे, वे अपनी अगुलियाँ बाँध कर खडे हो गये और बोले—राजन्! क्या आज्ञा है? राजा ने एक को सकेत किया, तब घोड़े की तरफ वह आगे वढा।

घोड़े पर नियंत्रण पाने के जितने उपाय वह जानता था, उसने एक-एक करके सबको आजमाया, लेकिन घोड़े ने उसको गिरा ही दिया। राजा ने तब एक के बाद दूसरे अश्वारोहियों को सकेत किया, लेकिन सभी पराजित हो गये।

निराशा के वातावरण में राजा को एक उपाय सूझा और उसने कहा—भाई! यह घोड़ा ही सवारी के काबिल नही दीखता है। तुम इसको पकड़ कर जरूर खड़े हो मगर इस पर सवारी कर सकते हो या नही—कौन जानता है, इतना सुनते ही वह तुरन्त घोड़े पर सवार हो गया और घोड़ा उसको वहाँ से ले उड़ा।

यह तो एक रूपक है। घोड़ा कैसा भी हो, उस पर सवारी करने की कला आनी चाहिये। यह आत्मा भी इस कला को सीख कर मन के घोड़े पर बैठ जाय तो यह वाहन उसको आध्यात्मिक क्षेत्र भी सफल यात्रा करा सकता है।

मनका समीक्षण-गन्तव्य का अधिकरण

क्या अपनी आत्मा को भी अश्वारोहण का ऐसा अवसर चाहिये? उस विदेशी का वह बाहर की दृष्टि का अश्व था, लेकिन भीतर का अश्व भी है।

प्रभु महावीर ने उद्घोषणा की है—

"मणोसाहसिओ भीमो दुट्ठो परिधावई।
तं सम्मं तुनिगिम्हायि, धम्मसिवाई कंथगं॥"

हे मानव, तुम्हारे पास भी मन का एक साहसी घोड़ा है, लेकिन वह दुष्ट स्वभाव का है। जिस आत्मा को उस घोड़े पर बैठने की कला नही आई, उसके लिये यह घोड़ा परम कष्टदायक होता है। इस घोड़े का अस्तित्व सदा आत्मा के साथ ही होता है। चाहे यह द्रव्य रूप में रहे अथवा भाव रूप मे यह मन का घोड़ा वड़ा तीव्रगामी होता है। जिस आत्मा को आध्यात्मिक आकाश में लम्बी यात्रा करनी है और मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचना है तो उसे इसी मन के अश्व पर आरूढ़ होना पड़ेगा। लेकिन बात यही है कि उसको इस पर आरूढ़ होने की कला सीखनी होगी—इस उद्दंड घोड़े को अपने कुशल नियंत्रण में लेना होगा। मन के

अश्व पर बैठकर उसे नियन्त्रित करते हुए जीवन यात्रा में सन्तोषजनक प्रगति साधी जा सकती है ।

समय-समय पर आप कुछ बातें जिज्ञासा के रूप में रखते हैं कि महाराज, हम धर्म साधना और आध्यात्मिक जीवन का चिन्तन करने के लिये बैठते है, लेकिन साधना और चिन्तन चलता नही है—मन कही का कही चला जाता है । जब तक मन स्थिर और नियत्रित नही होता, तब तक बात बनती नही है । इस जिज्ञासा का समाधान इतना ही है कि आपको आरोहण की कला आनी चाहिये और उसके बाद आरोहण हो तो प्रगति अवश्यंभावी है । लेकिन प्रश्न यह भी है कि प्रगति किसको कहे ?

क्या किसी रॉकेट मे बैठकर पृथ्वी का इधर से उधर चक्कर लगा लेना प्रगति है ? सामाजिक क्षेत्र मे कुछ सुधार ले आना प्रगति है ? व्यवसाय को उन्नत वना लेना प्रगति कहलायगी ? मै इनको प्रगति नही कह रहा हूँ । मेरा अभिप्राय आप समझते है । आत्मा की विशेष प्रकार की गति ही प्रगति कहलाती है । वास्तविक प्रगति यही होती है कि आत्मा निजत्व का समीक्षण कर उसे पूर्णतया उपलब्ध कर सके ?

तटस्थ भाव से चिन्तन करे तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की भावना आगे वढने की होती है और वह सुदीर्घ भविष्य की वात सोचकर अपनी क्राति की रूपरेखा वनाता है । जो जितना आगे को सोचता है, उसको दुनिया उतना ही प्रगतिशील कहती है । जो ऐसा नही करते, वे अप्रगतिशील या प्रगति-विरोधी कहलाते है । ऐसी आगे की बात किसी भी सांसारिक विषय के लिये सोची जाय—जैसे आर्थिक या व्यावसायिक क्षेत्र की वात हो तो वह कला क्या प्रगतिशील है ? व्यक्ति अपने ही औजारों से दुनिया को नापना चाहता है और उसकी ही अनुरूपता मे प्रगति की व्याख्या करने लगता है । लेकिन उसकी प्रगति उस घाणी के वैल के समान ही होती है । दो पैसे कमाकर या वाल बच्चों को ठीक से पालकर भला क्या आप जीवन यात्रा मे प्रगति कर लेते है ? ऐसा भली प्रकार कर लेने के वाद जव सासारिकता की पट्टी को अपनी आँखो पर से उतारेंगे, तब उस घाणी के वैल की तरह यही प्रतीत होगा कि आप वही के वही खड़े है—चले बहुत, लेकिन संसार की घाणी के चारो ओर ही । आप दो कदम भी आगे नही वढ़े है । इसके विपरीत जीवन के महान् उद्देश्य से कुछ पीछे ही सरक गए है ।

मनका समीक्षण अर्थात् निर्मलता की ओर गति

यदि किसी को जीवन यात्रा की प्रगति का लेखा-जोखा है तथा प्रगति की सही-सही व्याख्या जाननी है तो उसे समीक्षित मन के साथ अपने अन्त:करण की निर्मलता पर दृष्टिपात करना होगा। जितनी अधिक निर्मलता होगी, उतनी ही अधिक प्रगति कहलायगी। अपनी प्रगति का सही लेखा-जोखा लेने के लिये अपने अन्त.करण मे झाँकिये। उसका समीक्षण करिये, यह परीक्षा कीजिये कि मन आपके अपने नियंत्रण मे है या नहीं ? यदि है तो कितने अशो मे और नही है तो क्यों नही है ? मन के अश्व पर आत्मा आरूढ है अथवा नही है तो उसे किस प्रकार आरूढ बना सकते है ?

संसार में परिभ्रमण करते हुए अनादिकाल से मन की कुछ वृत्तियाँ विचित्र बन गई है। वे ही उसके स्थायी भाव के रूप मे बदल गई है। ये स्थायी भाव एक गोल चक्कर में चल रहे है जो आहार, निद्रा, भय तथा ससार की दशा के भाव हैं। यह मन जन्म से साथ लगा है और जिस वातावरण में यह चलता है उससे अपने अर्जित भाव भी ग्रहण करता है। यह मन इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न विषयो मे घूमता है। जिसकी जैसी दृष्टि होती है, उसी रूप में वह अपनी या किसी की प्रगति का हिसाव लगाता है। जैसे किसी की आर्थिक दृष्टि होती है तो वह अर्थ को दृष्टि मे रख-कर ही प्रगति की व्याख्या करता है। लेकिन ऐसा भटकाव मन के अस्थायी और अर्जित भावों के कारण होता है। अगर आत्मा अपने भावों को प्रमुख बनाकर मन के अश्वपर नियत्रण कर ले और आरूढ़ हो जावे तो प्रगति की व्याख्या का लेखा-जोखा केवल आत्मा की उन्नति से ही निकाला जायेगा और ऐसा लेखा-जोखा ही प्रगति का यथार्थ लेखा-जोखा होगा, आत्म-समीक्षण होगा।

वस्तुस्थिति का प्रतिपादन जब तक सही तरीके से नही होता है, तव तक किसी व्यक्ति मे सही लेखा-जोखा निकालने की क्षमता भी पैदा नही होती है। कपड़ा नापने के गज से क्या कोई किसी की मनुष्यता को नाप सकता है ? सोना-चाँदी तोलने के काँटे से कोई आत्मा का तोल निकाल सकता है ? इस जीवन की प्रगति का लेखा-जोखा आध्यात्मिक मापदंड से ही निकलेगा कि किसका अन्त:करण कितना निर्मल है ?

कवि आनन्दघनजी ने प्रार्थना में उस आध्यात्मिकता का मापदंड वताया है—

"निज स्वरूप जे किरिया साधे,
तेह आध्यात्म लहिये रे।
जे किरिया करि चउ गति साधे,
ते न आध्यात्म कहिये रे।"

निज-आत्मिक स्वरूप को साधने वाली प्रत्येक क्रिया आध्यात्मिक क्रिया है और जिस क्रिया से ससार के चतुर्गति भ्रमण का काम होता हो, वह क्रिया कभी भी आध्यात्मिक नही है। चिन्तनशील व्यक्ति जब चिन्तन के क्षणों में उतरते है और अपनी दृष्टि को सांसारिक विषयों से ऊपर उठाते है, तब उन्हे आध्यात्मिक क्षेत्र की झलक मिलती है, जिसके आधार पर वे आध्यात्मिक क्रियाओ को पहिचान सकते है, उन्हे अपना सकते है तथा अपनी जीवन यात्रा में अग्रगामी बन सकते है।

सच्ची प्रगति का आधार–अध्यात्म समीक्षण

आधुनिक युग मे भौतिकता एव आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में आपको एक विचित्र अन्तर्विरोध दिखाई देगा। आज की दुनिया मे अमेरिका भौतिकता से सम्पन्न देश है, जिसके विपरीत हिन्दुस्तान बहुत गरीब देश है। इस देश मे आध्यात्मिक सम्पन्नता सदा ही रही है। आज विचित्र दशा यह है कि भौतिक सम्पन्नता से दुःखी होकर अमेरिका हिन्दुस्तान की तरफ देख रहा है कि इस स्रोत से उसको शान्ति मिले। लेकिन हिन्दुस्तान में भौतिकता की भूख काम कर रही है और वह अमेरिका की तरफ देख रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि भौतिकता से मनुष्य की कभी तृप्ति नही होती है। आत्मा को शान्ति आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे विचरण करने से ही मिलती है इसलिये उस क्षेत्र मे सम्पादित प्रगति को ही सच्ची प्रगति कहते है।

आध्यात्मिक क्षेत्र ही जीवन मे महान् उपलब्धियों का साधन होता है, इसलिये भौतिकता की असलियत को जान लेने वालों की निगाहे इस आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर ही मुड़ती है। लेकिन जिनकी निगाहे भौतिकता की ओर लगी हुई हो, वे आसानी से आध्यात्मिकता के महत्त्व को कैसे आत्मासात् कर सकते है? वे तो इस मन के उद्दंड घोड़े पर बैठ-कर कभी नरक कभी तिर्यच गति तो कभी निगोद योनि तक मे पहुँच जाते है। किन्तु इस मन को आत्मा के अधीन बनाना और चलाना—यह एक विकट प्रश्न को भी हल करना है।

मनका समीक्षण अर्थात् निर्मलता की ओर गति

यदि किसी को जीवन यात्रा की प्रगति का लेखा-जोखा है तथा प्रगति की सही-सही व्याख्या जाननी है तो उसे समीक्षित मन के साथ अपने अन्त:करण की निर्मलता पर दृष्टिपात करना होगा। जितनी अधिक निर्मलता होगी, उतनी ही अधिक प्रगति कहलायगी। अपनी प्रगति का सही लेखा-जोखा लेने के लिये अपने अन्त.करण में झाँकिये। उसका समीक्षण करिये, यह परीक्षा कीजिये कि मन आपके अपने नियत्रण मे है या नही ? यदि है तो कितने अशों मे और नही है तो क्यों नहीं है ? मन के अश्व पर आत्मा आरूढ है अथवा नही है तो उसे किस प्रकार आरूढ बना सकते हैं ?

संसार में परिभ्रमण करते हुए अनादिकाल से मन की कुछ वृत्तियाँ विचित्र बन गई है। वे ही उसके स्थायी भाव के रूप मे बदल गई है। ये स्थायी भाव एक गोल चक्कर मे चल रहे है जो आहार, निद्रा, भय तथा ससार की दशा के भाव हैं। यह मन जन्म से साथ लगा है और जिस वातावरण मे यह चलता है उससे अपने अर्जित भाव भी ग्रहण करता है। यह मन इन्द्रियो के भिन्न-भिन्न विपयो में घूमता है। जिसकी जैसी दृष्टि होती है, उसी रूप मे वह अपनी या किसी की प्रगति का हिसाब लगाता है। जैसे किसी की आर्थिक दृष्टि होती है तो वह अर्थ को दृष्टि मे रखकर ही प्रगति की व्याख्या करता है। लेकिन ऐसा भटकाव मन के अस्थायी और अर्जित भावों के कारण होता है। अगर आत्मा अपने भावों को प्रमुख बनाकर मन के अश्वपर नियंत्रण कर ले और आरूढ हो जावे तो प्रगति की व्याख्या का लेखा-जोखा केवल आत्मा की उन्नति से ही निकाला जायेगा और ऐसा लेखा-जोखा ही प्रगति का यथार्थ लेखा-जोखा होगा, आत्म-समीक्षण होगा।

वस्तुस्थिति का प्रतिपादन जब तक सही तरीके से नही होता है, तब तक किसी व्यक्ति में सही लेखा-जोखा निकालने की क्षमता भी पैदा नही होती है। कपड़ा नापने के गज से क्या कोई किसी की मनुष्यता को नाप सकता है ? सोना-चाँदी तोलने के काँटे से कोई आत्मा का तोल निकाल सकता है ? इस जीवन की प्रगति का लेखा-जोखा आध्यात्मिक मापदंड से ही निकलेगा कि किसका अन्त:करण कितना निर्मल है ?

कवि आनन्दघनजी ने प्रार्थना मे उस आध्यात्मिकता का मापदड बताया है—

"निज स्वरूप जे किरिया साधे,
तेह आध्यात्म लहिये रे।
जे किरिया करि चउ गति साधे,
ते न आध्यात्म कहिये रे।"

निज-आत्मिक स्वरूप को साधने वाली प्रत्येक क्रिया आध्यात्मिक क्रिया है और जिस क्रिया से संसार के चतुर्गति भ्रमण का काम होता हो, वह क्रिया कभी भी आध्यात्मिक नही है। चिन्तनशील व्यक्ति जब चिन्तन के क्षणो मे उतरते है और अपनी दृष्टि को सांसारिक विषयो से ऊपर उठाते है, तब उन्हे आध्यात्मिक क्षेत्र की झलक मिलती है, जिसके आधार पर वे आध्यात्मिक क्रियाओ को पहिचान सकते है, उन्हे अपना सकते है तथा अपनी जीवन यात्रा मे अग्रगामी बन सकते है।

सच्ची प्रगति का आधार-अध्यात्म समीक्षण

आधुनिक युग मे भौतिकता एव आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में आपको एक विचित्र अन्तर्विरोध दिखाई देगा। आज की दुनिया में अमेरिका भौतिकता से सम्पन्न देश है, जिसके विपरीत हिन्दुस्तान बहुत गरीब देश है। इस देश मे आध्यात्मिक सम्पन्नता सदा ही रही है। आज विचित्र दशा यह है कि भौतिक सम्पन्नता से दुःखी होकर अमेरिका हिन्दुस्तान की तरफ देख रहा है कि इस स्रोत से उसको शान्ति मिले। लेकिन हिन्दुस्तान मे भौतिकता की भूख काम कर रही है और वह अमेरिका की तरफ देख रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि भौतिकता से मनुष्य की कभी तृप्ति नही होती है। आत्मा को शान्ति आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे विचरण करने से ही मिलती है इसलिये उस क्षेत्र मे सम्पादित प्रगति को ही सच्ची प्रगति कहते है।

आध्यात्मिक क्षेत्र ही जीवन मे महान् उपलब्धियो का साधन होता है, इसलिये भौतिकता की असलियत को जान लेने वालो की निगाहे इस आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर ही मुडती है। लेकिन जिनकी निगाहे भौतिकता की ओर लगी हुई हों, वे आसानी से आध्यात्मिकता के महत्त्व को कैसे आत्मासात् कर सकते है? वे तो इस मन के उद्दड घोड़े पर बैठकर कभी नरक कभी तिर्यच गति तो कभी निगोद योनि तक मे पहुँच जाते है। किन्तु इस मन को आत्मा के अधीन बनाना और चलाना—यह एक विकट प्रश्न को भी हल करना है।

मैं सोचता हूँ और गहराई से समीक्षण करता हूँ तो लगता है कि भविष्य में अगर दुनिया हिंसाकारी व विनाशक शस्त्रों का निर्माण और दुरुपयोग नही करे और विज्ञान को लोक-कल्याण के साथ जोड़ दे तो यह भौतिकता स्वयं भी आध्यात्मिकता की ओर मुख कर लेगी। इस प्रकार का जन-मानस बनाने का कर्तव्य है धार्मिक क्षेत्र मे कार्य कर रहे लोगों का कि वे उस प्रकार का प्रचार करे तथा दुनिया को आध्यात्मिकता का महत्त्व समझावें। वैसी खुराक तैयार करें। वह खुराक अगर दुनिया को मिलेगी तो दुनिया निश्चित ही आध्यात्मिकता की ओर मुड़ने लगेगी।

आध्यात्मिक क्षेत्र में जिनकी गति है, वे आत्म-सकल्प के आधार पर चलते है, जिसके साथ आत्म-विश्वास और आत्म पुरुषार्थ जुड़ा हुआ होता है। योग का सहयोग तो उनको मिलता है लेकिन आध्यात्मिक प्रगति साधने वाले योग पर ही आधारित नही रहते। नदी का प्रवाह जिस ओर वह रहा है, उस प्रवाह में तो कोई भी तैर कर दूर तक जा सकता है लेकिन विशेषता उसकी होती है जो प्रवाह के विरोध मे तैरे और अपनी आत्म-शक्ति का परिचय दे। जो प्रवाह का सामना करता है, वह दुनिया की निन्दा—सराहना की परवाह नही करता है, और सत्य तत्त्व का अनुसरण नही छोड़ता है। लोग चाहे उसको पुराणपथी ही क्यों न कहें ? किन्तु यह जो गति है, वही सच्ची प्रगति है।

अन्धानुकरण नहीं—सिद्धान्तों का समीक्षण

इस संसार में विषय कषायों का प्रवाह भी नदी के पूर की तरह वह रहा है। जो इस प्रवाह के साथ बहता है, वह भौतिकता का अन्धानुकरण करता है लेकिन जो इस प्रवाह के सामने तैरता है, वही वास्तविक प्रगति को साध लेता है। लेकिन आज के युग में धार्मिक क्षेत्र मे भी प्रगतिशीलता की नई-नई व्याख्याएँ लोग करने लगे है। वे कहते है कि—"युग प्रगतिशील है—इसमें साधु भी वाहन से यात्रा करे, ध्वनि विस्तारक यत्र काम में लें, गद्दी, कुर्सी पर बैठे और बहिनो से हाथ मिलावे तो क्या आपत्ति है ? इन बातों का उनके अनुसार वे ही विरोध करते है जो पुराणपंथी है।" इस प्रकार का कथन भ्रान्ति-मूलक है। क्योंकि जो धारा के सम्मुख मुड़ा था, वह उस धारा के प्रवाह को सहन नही कर पाया तो तरकीव से विषयों की ओर लुढकने लगा और धारा में सम्मुख तैरने वालों

को पुराणपंथी कहने लगा एवं अपने को प्रगतिशील। यदि इन्द्रियों के विषयो मे लिपटने, योग के साधन जुटाने तथा साधुता को छल कपट से रगने में ही प्रगतिशीलना है तो वैसी प्रगतिशीलता वास्तव मे प्रतिगामिता है अथवा अधोगामिता।

प्रगतिशीलता अपने सिद्धान्तो पर दृढ़ रहकर आध्यात्मिक वा आत्म-साधना से आगे बढने का नाम है, वरना किसी भी बात के अन्धानुकरण को प्रतिगामिता ही कहेगे। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध सम-कालीन थे। बुद्ध के अनुयायी विभक्त होकर प्रतिगामी मार्ग पर बढ गये तो अधिकांश उसमे बह गये। लेकिन भगवान् महावीर के अनुयायी आध्यात्मिकता के क्षेत्र को व्यापक बनाने की बात ही सोचते रहे। प्रगति-शील वही है जो आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे से आगे जाना चाहता है, लेकिन सिद्धान्त और सद्व्यवहार के साथ तथा सुन्दर रीति व स्वस्थ गति के साथ। परन्तु लोग आज उल्टी प्रगतिशीलता की ओर मुड़ रहे है। भगवान् महावीर के युग मे भी गौशालक और जामालि थे जो भगवान् द्वारा बताये हुए मार्ग के विपरीत चलते थे, तथा अपने को प्रगतिशील मानते थे। आज के प्रगतिशील तर्क देने वालों को मैं पूछता हूँ कि भगवान् महावीर ने जामालि से यह क्यो नही कहा कि तुम्हारे और मेरे कहने में जो फर्क है, मै कुछ पीछे सरकूं तथा तुम कुछ आगे आओ ताकि अपने समझौता करले ? ऐसा नही करने पर भगवान् को संकुचित विचारो वाले या प्रतिगामी कह सकेंगे क्या ? यह सोचने की बात है कि वास्तव में प्रगतिशीलता क्या होती है और प्रतिगामिता क्या होती है ?

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा निर्देशित मार्ग तो प्रगति-शीलता का ही है। जो उनका सम्यक् अनुसरण करता है वही प्रगतिगामी बन सकता है। जो निर्देशित मूल यम-नियमों की विखण्डना करते है, वे प्रतिगामी है।

मेरे भाई बहिन आधुनिक हवा मे इतने ऊँचे उड़ रहे है कि जैसे पतंग उडता है। पतग की भी डोर हाथ मे हो तब तो कोई बात नही, लेकिन डोर हाथ से छूट जाय तब क्या हाल होगा ? यह जो डोर है, वह सिद्धान्तवादिता की डोर होनी चाहिये और जब यह डोर हाथ मे हो तब पतग कही भी कैसी भी उड़ान करे तो आत्म-पतन का खतरा नही रहेगा। शायद यह किन्ही-किन्ही को पसन्द नही आयेगा कि मै किस युग की बात

कर रहा हूँ। आप तटस्थ भाव से सोचेंगे तो ज्ञात हो जायगा कि मैं किस युग की बात कर रहा हूँ और महावीर किस युग की बात कर रहे थे? मैं उनका रूपक इसीलिये रखता हूँ कि आपको सोचने का सम्बल मिले। अपने को विशाल और व्यापक बनाइये, लेकिन सिद्धान्तवादी प्रगतिशीलता के साथ। आँखों पर पट्टी बाँधकर अन्धानुकरण की तरह नही बढे। क्योंकि वह, प्रतिगामिता होती है—अन्धा अन्ध पुलाय।

प्रगतिशीलता का आधार—सैद्धान्तिक समीक्षण

इस विश्लेषण से आप समझ गये होंगे कि जीवन की यात्रा मे—आध्यात्मिक क्षेत्र की यात्रा में गतिशील कौन होता है? मै खुले रूप से कहता हूँ कि सिद्धान्तों का जो धरातल नियत का लिया गया उस पर दृढतापूर्वक चलना चाहिये। दोहरे व्यवहार से दुनिया को धोखा देने की प्रवृत्ति नही रहनी चाहिये। जब कभी समीक्षण के संप्रेक्ष्य मे मन के घोड़े को ठीक तरह से नियंत्रित करके आगे बढने मे शक्ति लगायेंगे तो फिर अंधे नही रहेंगे। तब जीवन की यात्रा मे एक सुव्यवस्थित मोड़ आ जायेगा। फिर समीक्षण की व्यवस्थित गति के साथ आप आगे-से-आगे प्रगति करते हुए चल सकेंगे।

प्रगतिशील समझें किसको? कोई कदम उठाने से पहले अपने अन्त.करण का ठीक तरह से समीक्षण करे, अपने मन को भलीभाँति तोले। जब यह स्थिति आ जायेगी—यह कला हृदय मे उतर जायेगी तो मन के अश्व पर आरोहण भी हो जायगा और अश्व की गति भी नियन्त्रित हो जायगी। जीवन की यात्रा मे इस प्रकार की प्रगतिशीलता के साथ जब आत्मा अपनी ही आन्तरिकता मे गति करेगी, उसका समीक्षण करेगी तभी वह अपने चरम विकास तक पहुँच सकेगी। वहाँ तक पहुँचने के लिये हम अपनी स्थिति साधु जीवन को लेकर चल रहे है, आप भी आगे बढ़ें और सन्त जीवन को आगे बढावे।



५ समीक्षण बनाम अन्तर्दर्शन

समीक्षण ध्यान की साधना अन्तर्दर्शन की साधना है। किन्तु इसका प्रतिफलन उभयमुखी होता है। यह जीवन के अन्तर्बाह्य दोनो तटो का स्पर्श कर आनन्द से भर देती है। नदी अपने दोनों तटों को हरा भरा करती हुई चलती है। दोनो तटो की शोभा बढाती हुई ही वह समुद्र की ओर प्रगतिशील बनती है। वैसे ही इस जीवन में यदि समीक्षण-साधना का समुचित रूप से विकास हो जाय तो वह साधना-शक्ति भी नदी की ही तरह जीवन के दोनों तटों को हरा भरा एव शोभास्पद बनाती हुई वीतरागता के समुद्र मे अन्तर्निहित हो जायगी। ये दोनों तट बाहरी और भीतरी जीवन के रूप में अथवा इहलोक एव परलोक के रूप मे माने जा सकते है।

किन्तु इस साधना का विकास कैसे होगा ? क्योंकि यह चेतना शक्ति इसी आत्मा की शक्ति है जो सांसारिकता मे तीव्र होने से आध्यात्मिक मार्ग की तरफ से सुषुप्त सी बनी हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी जागृति हो, तभी उसका तदनुकूल विकास सम्पादित किया जा सकता है। ऐसे विकास के लिए समीक्षण साधना किवा अन्तर्दर्शन के अभ्यास की आवश्यकता होती है। कारण, अन्तर्दर्शन होगा तभी अन्तश्चेतना के स्वरूप की समीक्षा हो सकेगी एव उस स्वरूप की जागृति अन्तर्दर्शन के परिपुष्ट अभ्यास से ही सम्पन्न होगी।

समस्याओ का घेरा : आत्म-विस्मृति

आज के मानव के समक्ष इस लोक की समस्याएँ विशेष रूप से मुँह फाड कर खडी रहती है। मनुष्य यह चाहता है कि मेरा यह दृश्य जीवन, जिसमे मैं जी रहा हूँ, जिस परिवार मे मैं रह रहा हूँ, जिस समाज के बीच मैं चल रहा हूँ और जिस राष्ट्र के साथ मेरा सम्बन्ध है, मैं उन सभी स्थानो मे सर्वोपरि प्रतिष्ठित रहूँ। मेरी पहुँच सभी स्थानो पर हो।

मैं इन कार्यों को करता हुआ कभी भी किसी से दबू नही और सर्वत्र मेरी प्रशसा हो।

यह प्रशंसा, प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की भावना मानव के मन में उभरनी स्वाभाविक है। चाहे वह साध्य रूप में हो अथवा साध्य रूप में न हो, शुद्ध साध्य के साथ भी इस प्रकार की भावना शुद्ध साध्य के लक्ष्य में कभी न कभी अवरोधक वनकर साध्य का रूप ग्रहण कर सकती है। अतएव समीक्षण-दर्शी साधक को ऐसी भावना भी मन मे उभरने, जागृत नही होने देनी चाहिए। कदाचित् उसकी स्फुरणा बनती हो तो तत्काल उसका समीक्षण करके उसे शमित कर देना चाहिए।

साधक का एकमात्र शुद्धोद्देश्य ही उसके सम्मुख रहना चाहिए। उसी उद्देश्य की पूर्ति दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य से करते रहने का समीक्षण चालू रहे। ऐसे साधक को अनिच्छा रहने पर भी पूर्वोक्त यश, कीर्ति स्वयं साधक के पीछे भागती रहेगी। किन्तु साधक, उसको अपने लिए उपादेय के रूप में ग्रहण नही करके अनुकूल प्रतिवन्धक के रूप में ही समझता रहे तो उस साधक के जीवन में शुद्ध लक्ष्य की धूमिलता नहीं होगी, वह सदा सर्वदा प्रगतिशीलता के साथ अनवरत अग्रिम चरण धरता ही रहेगा। उसके जीवन में वास्तविक सेवा सहयोग और सत्कार्य वनते रहेगे।

किन्तु यह भावना भी धन और वैभव प्राप्त करने के उद्देश्य जैसी होती है। किसी भी तरह प्रशंसा, प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त हो, इसके लिए वह जैसी अनीति का आचरण धन कमाने के क्षेत्र में करता है। वैसे ही अनीति का आचरण इस क्षेत्र में भी करना आरम्भ कर देता है। कीर्ति का बाहरी आवरण इस रूप में खड़ा कर दिया जाता है, जैसे कि वह एक 'महान् पुरुष' है, किन्तु कोई विवेकशील व्यक्ति ही उस 'महान् पुरुष' के भीतर झाँक कर देखे तो उसके जीवन का खोखलापन साफ दिखाई दे जाता है।

इस तरह जो व्यक्ति अनीति पर आधारित धूर्तता का जीवन जीते है, वे सामान्य रूप से शान्ति-प्रिय समाज में विविध प्रकार से समस्याएँ खड़ी कर देते है। धनार्जन और यशोऽर्जन के क्षेत्रों मे ऐसी फर्जी कार्य-वाहियों से सामान्य जन के लिये कई तरह की समस्याएँ पैदा हो जाती

हैं, वे ही इह लोक की लौकिक समस्याएँ है। इन लौकिक समस्याओं से आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कई कठिनाइयाँ सामने आती है और उनका हल निकाले बिना आत्मोन्नति का मार्ग निष्कटक नही बनता है।

पहले पहले तो मनुष्य धनार्जन और यशोऽर्जन के क्षेत्रों में नीति के अनुसार प्रयत्न और पुरुषार्थ करता है, किन्तु ऐसा करने पर भी दुनिया की आपाधापी मे जब उसको इच्छानुसार फल नही मिलता है, तो वह भी उस आपाधापी मे शामिल हो जाना चाहता है तथा नीति को छोड़कर अनीति के मार्ग पर चल पडता है। नीति पर चलते हुए वह अनुभव करता है कि उसके जैसे लोगों की सख्या और उनका प्रभाव बहुत कम है और इसी कारण वह अपने या अपने परिवार-जनो के अभावो को पूरा नही कर पाता है। कभी-कभी तो परिवार के सदस्य भी उसका निरादर करने लगते है—समाज और राष्ट्र में आदर पाना तो दूर की बात होती है। वह देखता है कि सभी जगह वे ही लोग आदर पाते है और उन्ही की कोर्ति में ज्यादातर चार चॉद लगते है, जो सम्पन्न होते है—इसका कोई विचार नही है कि वह सम्पन्नता उन्होने कितनी अनैतिकता से प्राप्त की है।

नीति पर चलते हुए उसको चारो ओर निराशा ही निराशा दिखाई देती है। सुख के बजाय पग-पग पर दुर्भाग्य सामने खड़ा दिखाई देता है। नानाविध कठिनाइया उसको घेर लेती है, तब उसके जीवन मे रिक्तता प्रवेश करने लगती है। जो पृष्ठ-भूमि में आध्यात्मिक अनुभव होता है, उससे उसका जीवन रिक्त बन जाता है। जीवन की उस रिक्तता में वह भी पागलो की दौड़ में शामिल हो जाता है और अनीति की कालिमा से अपने जीवन को रँगता हुआ आत्म-विस्मृत बन जाता है। जीवन की ऐसी रिक्तता अत्यन्त भयावह होती है।

समीक्षण का दिग्बोध

जीवन की भयावह रिक्तता मे जब कभी समीक्षण का चितन उपस्थित हो जाता है तो भावना की अनुकूलता के साथ मनुष्य अपने जीवन की दुर्दशा का समीक्षण करने लगता है। वह कुछ गहरा उतर कर आत्म-समीक्षण करता है कि जीवन की ऐसी दुर्दशा क्यो हो रही है? जैसा कि मुझे महसूस होता है, दुर्भागी हूँ तो क्या, यह मनुष्य जीवन

दुर्भाग्य से मिलता है ? यदि ऐसा नही है तो मै दुर्भागी कैसे ? सद्भागी ही हूँ, किन्तु शायद मै अपने सद्भाग्य को ठीक से नही समझ पा रहा हूँ। इस मनुष्य जीवन मे तभी आत्मिक शक्तियाँ विकसित होने को आतुर है—मै ही दुर्दशाग्रस्त वन कर उन्हें नही समझ पा रहा हूँ। मै अपने भीतर केवल अभाव ही अभाव देख रहा हूँ, रिक्तता महसूस कर रहा हूँ और जीवन का सही सूत्र पकड नही पा रहा हूँ, किन्तु वह सूत्र मुझे पकडना होगा ....।

ऐसी चितन-धारा प्रवाहित होती है तो कभी-कभी उसमे भावनाओं की वाढ भी आ जाती है, उस बाढ मे जीवन का बहुत सारा कचरा वह जाता है।

आगम ग्रथो मे उल्लिखित अनेक महापुरुषो के जीवन हमारे सामने है, जो प्रशस्त भावनाओं की ऐसी उच्चतम कोटि मे इतने जल्दी पहुच गये कि चंद क्षणो मे ही उनके जीवन की समूची उज्ज्वलता निखर उठी। जागृति के सुनहरे क्षण ऐसे ही होते है। फिर पूर्ण चिन्तन धारा से जीवन के दोनों तट हरीतिमामय वनते है तो शोभादायक भी बन जाते है। ये दोनो तट बाहरी और भीतरी जीवन के होते है, जो इस प्रकार की चिन्तन धारा से सजल और सरस वन जाते है। यह जीवन सरस बनता है तो परलोक स्वय ही सरस वन जाता है।

कई बार जागृति के ऐसे सुनहरे क्षण स्वय के समीक्षण द्वारा स्वय का विवेक जागृत करदे तो स्वय भी उपस्थित हो सकते है, किन्तु यह विरल होता है। अधिकतर सुनहरे क्षण सन्त समागम से ही उपस्थित होते है। जव मनुष्य सन्तो के समीप पहुँचता है, प्रभु की प्रार्थना तथा भगवान की वाणी का श्रवण करता है, उस वाणी मे उसका रस जमता है तो वह ज्ञान चर्चा भी करता है—तथा अन्तर्दर्शन की तरफ भी प्रेरित होता है। सन्त समागम जितना प्रभावशाली होता है, उतने ही रूप मे वह अपनी भावनाओ को शुभ्रता मे ले जाता है तथा आत्मोत्थान के लिये पुरुषार्थ करने का सकल्प बना लेता है। यह मोड़ उसके जीवन का सुखद मोड हो जाता है और वह धीरे-धीरे ही सही, अपने जीवन को स्वस्थ बना लेता है। एक बार जीवन में जो जागृति के क्षण आते है उनकी यदि सुरक्षा कर ली जाती है तथा जीवन व्यवहारो मे तदनुसार परिवर्तन आ जाता है तो वे क्षण स्थायी वन जाते है। उनके स्थायित्व का अर्थ होता

है आत्मा का सतत समीक्षण, और वही समीक्षण परिपूर्ण शुद्धि का हेतु बन जाता है ।

निष्काम समीक्षण

श्री मदानन्दधनजी ने प्रार्थना मे सकेत दिया है कि तू सुपार्श्वनाथ भगवान का वन्दन कर । आज के युग के व्यक्ति किसी भी कार्य का प्रयोजन पहले जान लेना चाहते है और यह उचित भी है । इसीलिए उन्होने प्रयोजन बतलाने की दृष्टि से पहली कड़ी मे ही सकेत दे दिया है कि मै जो वन्दन कर रहा हूँ, वह बिना प्रयोजन के नही है । इसके लिये कहा गया है कि—

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए,
सुख सम्पति नो हेतु.... .ललना .... ।
शान्त सुधारस जलनिधि,
भवसागर मा सेतु.. . ललना .. ।

इसमे कहा है कि तू परमात्मा को वन्दन कर । वन्दन करने से तुझे फल मिलेगा । कहा जाता है कि साधक को फल की कामना नही करनी चाहिए, लेकिन फल की कामना किस रूप मे नही करनी चाहिये— यह समझने का विषय है । फल की कामना मागनी या याचना के रूप मे नही करनी चाहिये । इसके अन्तर को समझ लीजिये ।

एक व्यक्ति धर्म करनी का मूल्यांकन करता है, लेकिन उसमे मूल्य की कामना नही करता है । धर्म करनी का मूल्याकन करने वाला जब वन्दन करने की स्थिति मे आता है तो सोचता है कि मेरी धर्म करनी का फल हो तो मुझे अमुक वैभव मिले, सन्तान मिले या अन्य प्राप्ति हो । ऐसी फल कामना उस धर्म करनी को बेचने के समान होती है । ऐसी फल-कामना बधनकारी होती है क्योकि उसके द्वारा अमूल्य वस्तु को नाकुछ मूल्य के साथ बेच दिया जाता है । एक चिन्तामणि रत्न किसी व्यक्ति को मिल जाता है । वह उसकी कीमत नही समझता है और जौहरी के पास चला जाता है कि जितनी कीमत वह अपनी ईमानदारी से उचित समझे वह उसको दे दे । तब तो जौहरी कुछ सोचने पर बाध्य होगा, लेकिन वह अगर यह कहे कि मुझे दस रुपये दे दो और यह टुकड़ा ले लो, तो जौहरी सोचने पर भी बाध्य नही होगा और दस रुपये मे चिन्तामणि

रत्न खरीद लेगा। इसमे दोष खरीदने वाले का नहीं, बेचने वाले का है। इसी रूप में धर्म करनी करने वाले भाई-बहिन यह भावना रख सकते है कि उसका उन्हे फल मिलेगा, लेकिन दस रुपये में चिन्तामरिग रत्न बेचने की तरह धर्म करनी को बेचने के लिये वे कीमत नहीं करे। वे फल की यही भावना रखें कि उनकी आत्मा शुद्ध होगी, बाकी जो मिलेगा, वह अपार मिलेगा। लेकिन मॉगनी या याचना नही होनी चाहिये।

परमात्मा की प्रार्थना का जो प्रयोजन बताया गया है वह यही है कि इसमें सुख और सम्पत्ति मिलेगी, लेकिन वह लौकिक नहीं, अलौकिक होगी; जिसकी सहायता से भवसागर मे पुल बन जायेगा याने कि परमात्म-स्वरूप की दिशा में प्रमारण हो जायेगा एवं शान्ति का अमृत पीने को मिलेगा। प्रार्थना का प्रयोजन कभी लौकिक वांछा नही होना चाहिये।

धर्म करनी का फल : आत्म-समीक्षण

धर्म करनी के फल को भी यदि जानना चाहे तो उसको ध्यान मे रखले। जो परमात्मा को नमस्कार किया जाता है—वह व्यर्थ में जाने वाला नही है। यह नमस्कार सुख-सम्पत्ति का हेतु है। सुख-सम्पत्ति का हेतु क्यों है—इसे कुछ गहराई से समझना होगा। जब भी आप परमात्मा को, गुणी जनो को, सन्त-पुरुषो आदि को नमस्कार करने की स्थिति मे होगे और सही भाव से नमस्कार कर रहे होगे तो उस समय बुद्धि में निर्मलता आये बिना नही रहेगी। कारण, उस समय तुरन्त यह तुलना सामने आयेगी कि जिनको नमस्कार किया जा रहा है, वे किस धरातल पर खड़े है और नमस्कार करने वाला किस धरातल पर खड़ा है ? उस तुलना में प्रेरणा जागृत होगी। तब आत्मा की अशुद्धता और कर्म-जन्य मलीनता को धोने का सकल्प पैदा होगा। सतो के दर्शन के समय शुभ भावों का प्रवाह चलेगा और तब पापपूर्ण भाव रुक जायेंगे। मन पाप से रुकेगा तो सद्गुणो मे रमेगा। क्योकि मन गति तो करता ही है। अगर उसको पाप की ओर जाने से रोक लेगे तो उसकी गति धर्म की ओर ही बढ़ेगी। वह अन्तर समीक्षरण या आत्म-दर्शन मे प्रवृत्त होगा।

आप अन्तर्दर्शन करने का अभ्यास कीजिये, आत्म-समीक्षण कीजिये फिर आपको विदित होगा कि कितने बुरे विचार अपने अन्दर रात दिन

आते रहते है तथा उनके दबाव से मन किस रूप में धर्म कार्यो से विमुख बना रहता है ? पहले तो अन्दर देखने पर प्रकाश ही नही दिखाई देगा, क्योंकि वहां अन्धकार भरा हुआ है, लेकिन ज्यों ज्यों समीक्षण का अभ्यास पुष्ट बनेगा और आप समीक्षण की गहराई मे उतरेगे त्यो त्यों आप वहाँ की स्थिति को देखकर भाव-विह्वल हो जायेगे कि क्या मेरी जिन्दगी बुरे विचारों से ही भरी हुई है ? उस स्थिति में सुधार लाने के लिये ज्ञानी जनों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपाय बताया है—वन्दन का, नमस्कार का। यह उपाय केवल ज्ञानियों द्वारा निर्देशित हुआ है। वन्दन प्रभु के लिये बताया है परन्तु उसके साथ-साथ सारी प्रक्रिया का निर्देशन है। यदि उस परम्परा से आप चलते है तो सद्विचारों को बनाने के लिये कई कार्यक्रम हो सकते है और इन प्रसगों से जीवन सधता रहे तो सहज ही विचारों का प्रवाह पवित्र बनता हुआ चला जाता है। धर्म करनी का फल स्वतः ही प्राप्त होता हुआ चला जाता है, सिर्फ बात अपनी आत्मा के समीक्षण की है—आत्म-दर्शन करते रहने की है।

आप सोचेगे कि प्रात.काल मनुष्य अपने घर के कार्यो मे ही व्यस्त रहता है, लेकिन जब उसके ध्यान में आता है कि प्रार्थना के कार्यक्रम का समय हो गया है तो वह सारे कार्यो को छोड़ कर प्रार्थना मे सम्मिलित होने के लिये चल पडेगा और अपने बाल बच्चों और परिवार जनो को भी साथ मे ले जायेगा। तो इस रूप मे घर मे रहते हुए भी शुद्ध भावना आई या नही ? प्रार्थना का ध्यान आते ही जाने की उमंग आई—शब्द गुण की दृष्टि से वह पल्लवित हुआ। घर वालो को चलने के लिये कहा तो धर्म दलाली हुई। धर्म स्थान पर जाकर प्रार्थना मे तल्लीन बना और सन्तो के दर्शन करके मगल पाठ सुना तो कम से कम उतने समय तक के लिये तो बुरे विचारो का आवेग रुका रहा तथा सद्गुणों को अपनाने की प्रेरणा मिली। फिर व्याख्यान का कार्यक्रम होता है तो घर के कार्यो को जल्दी निपटाकर पुन. पहुँचने की जल्दी रहती है—शास्त्र श्रवण करने की आकाक्षा बनती है। व्याख्यान मे सामायिक की तो संवर की साधना में प्रवृत्ति होती है—पाप का त्याग होता है। सद्विचारो में ध्यान रमता है तो दोपहर की चौपी में सायंकाल प्रतिक्रमण मे तथा प्रश्नोत्तरी मे नियमित रूप से पहुचने की उत्सुकता रहती है और इन सभी कार्यक्रमों मे नियमित रूप से भाग लेने के कारण अपनी विचारधारा मे शुद्धता और सद्गुणों का प्रवाह स्थायी रूप से बल पकड़ने लगता है।

इसे आप धर्म करनी का ही फल मानिये कि जीवन मे सद्गुणो की वृद्धि होती है, परिणामो की शुद्धता धीरे-धीरे अखण्ड बनती है तब अन्तर्दर्शन का अभ्यास या आत्म-समीक्षण स्थायी पवित्रता मे परिवर्तित होता जाता है।

मन की चक्की रिक्त न रहे

आत्म-समीक्षण की वृत्ति तथा उसका अभ्यास जितना सजग और परिपुष्ट बनता है, उतना ही जीवन मे सर्वतोमुखी पवित्रता का त्वरित विकास होता है। मन की वृत्तियाँ निर्मल होती है तो बुद्धि में भी सदाशयता का प्रवेश होता है एवं बुद्धि व मन की सहायता से जीवन की समस्त प्रवृत्तियाँ स्व तथा पर के कल्याण में नियोजित हो जाती है। इस रूप में अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है तथा अन्य कर्म भी टूटते जाते है। निर्मल बुद्धि और मन की अवस्था से गृहस्थाश्रम की प्रवृत्तियां भी निर्मल बन जाती है। तब बाहरी और भीतरी जीवन में सुख और सम्पत्ति की साधना सुदृढ हो जाती है। एक वन्दन से होने वाली शुभ स्थिति के बारे मे यह तो पहली उपलब्धि है। कवि ने इस वन्दन के साथ जिस सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति का सकेत किया है, उसको आप गंभीरता से समझने का यत्न करे।

एक बहिन अपने मामाजी के यहां पहुंची, उसने मामाजी के यहाँ हाथ-चक्की चलती हुई देखी। उसके घर-पीहर का ऐसा वातावरण था कि वहाँ हाथ-चक्की से काम नही लिया जाता था। आप जानते हैं कि हाथ-चक्की से पिसे आटे के उपयोग से मन और शरीर के स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। लेकिन उस बहिन ने सोचा कि मामाजी के यहाँ पैसों की तगी दिखती है। जिस कारण यहाँ हाथ-चक्की काम में ली जाती है। उसने मामाजी से पूछा कि वे आटा कल-चक्की में क्यो नही पिसवाते है? मामाजी ने समझाया कि हाथ-चक्की चलाने के कई गुण है? श्रम करने से सच्चे सुख की साधना होती है। प्रातःकाल हाथ-चक्की चलाने से शरीर का सुन्दर व्यायाम हो जाता है, शरीर तथा शरीर के साथ मन मे स्फूर्ति का सचार होता है। उस स्फूर्ति से बुद्धि निर्मल बनती है। हाथ के पिसे आटे मे गेहूं के पोषक तत्त्व नष्ट नही होते हैं, जिनके कारण शरीर का स्वास्थ्य अच्छा रहता है। कल-चक्की के आटे मे अनाज के पोषक तत्त्व ही नष्ट नही होते, जीवन के पवित्र तत्त्व भी नष्ट हो जाते

है। मै भी चक्की चलाता हूँ—जब हाथ चक्की चलाने में इतने गुण है तो पुरुष उसमें पीछे क्यो रहे ? तुम समझती होगी कि पैसे बचाने के लिये हाथ-चक्की का प्रयोग होता है तो ऐसी बात नही है। इस प्रयोग के लाभ बहुत ज्यादा है। तुम भी यह प्रयोग करोगी तो आनन्द आ जायगा। तब उस बहिन ने भी हाथ-चक्की का प्रयोग शुरू कर दिया। लेकिन अन्तर यह पड गया कि वह चक्की तो चला रही थी। पर दाने नही डाल रही थी। मामाजी की उस तरफ नजर गयी तो उन्होने टोका कि बिना दाने डाले खाली चक्की क्यो चला रही हो ? दाने डालने पर चक्की उसको भारी लगी। तब मामाजी ने एक सन्त का उपदेश सुनाया कि खाली चक्की चलाने से पाट घिसते है, आग पैदा हो जाती है तो नुकसान हो जाता है उसी तरह मन की चक्की चलती है। अगर उसको खाली चलाते हो तो मन की शक्ति का अपव्यय होता है—इसीलिये उसमे सन्तों के उपदेश और सद्‌गुणों के दाने डालते रहना चाहिये ताकि उनका मथन होता रहे। मन की चक्की मे जब उनका सार निकल जाता है तो वे जीवन में रम जाते है।

यह मन की चक्की मे जो पीसना है, वही समीक्षण या अन्तर्दर्शन का अभ्यास है और जीवन के स्वास्थ्य के प्रति सजगता का लक्षण है। इस प्रयोग से जीवन की समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियो मे पवित्रता व्याप्त हो जाती है।

समीक्षण अर्थात् अन्तर्दर्शन

मेरे कथन का तात्पर्य यही है कि हाथ-चक्की चलने से जिस रूप मे घर की सुन्दर सेवा बन पड़ती है, उसी रूप में मन की चक्की मे सद्‌विचारो और सद्‌गुणो के दाने पड़ते रहें तो अन्तर्दर्शन का अभ्यास पक्का हो जाता है और जीवन को सद्‌गुणी बनाने की चेष्टा सफल बनती है। मेरे भाई-बहिन भी यहाँ अच्छी बाते सुनकर उन्हे चिन्तन-मनन की दृष्टि से अपने मन की चक्की में पीसे। जो घर के सदस्य यहाँ नही आ पाये है, उनको वे अच्छी बाते सुनाये तथा अपना चिन्तन भी उन्हे देवें। चिन्तन की प्रक्रिया से कई गुना ज्ञान बढ़ता है तथा जीवन मे सद्‌गुण ही सद्‌गुण पल्लवित एवं पुष्पित होते है।

अन्तर्दर्शन के साथ समीक्षण ध्यान की साधना भी सधती है। आप प्रवचन सुनते है, किन्तु प्रवचन स्थल से जाने के बाद जो कुछ सुना हो,

उसको वापिस ध्यान में लावें और दूसरों को कहने का अभ्यास करें। प्रवचन ध्यान से सुनेंगे तभी वह विशेष स्मृति मे रहेगा। एक दिन ध्यान से सुनेंगे तो दूसरे दिन और अधिक ध्यान से सुनने की प्रवृत्ति बनेगी और इस प्रवृत्ति का प्रतिदिन विकास होता रहेगा तो ध्यान मे एकाग्रता तथा एकनिष्ठा बनने लगेगी। जितने समय तक यहां सुनें उतने समय तक स्वयं के विचारों को गौण करके जो बातें कही जाती है उनको पूरे ध्यान से सुनें तथा अपने ध्यान से उन बातो का प्रयोगात्मक निष्कर्ष निकालें। कठिनाई आवे तो प्रश्न पूछकर हल करें। इस प्रक्रिया से धीरे-धीरे आप दुर्गुणों से ऊपर उठकर आन्तरिक ताप को मिटाने का प्रयत्न करें। समीक्षण की प्रक्रिया से यदि अन्तर ताप को मिटा दिया तो इहलोक और परलोक दोनों में सुख-शान्ति का अनुभव करेंगे।

यहां मैंने सुख-सम्पत्ति के एक अर्थ को लिया है, समग्र अर्थ को नही। आप इस एक अर्थ पर चिन्तन करें और समीक्षण अन्तर्दर्शन के अभ्यास की दृष्टि से आगे बढ़ने में प्रवृत्त हों। अन्तर्दर्शन तभी होता है जब अपना लक्ष्य आत्माभिमुखी बनता है। आत्मा को संचालक तत्त्व मानकर चलने से आन्तरिक प्रेरणा उद्‌भूत होती है। तब मनुष्य अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में अन्तःकरण की आवाज को सुनता है और उसका अनुसरण करते हुए अपने आत्मोत्थान के मार्ग को बाधारहित बना लेता है।

समीक्षण ध्यान साधना आत्मा की सतत जागृति की ऐसी ज्ञानपूर्ण प्रक्रिया है जिससे जीवन की अशुद्धि धुल जाती है, नई अशुद्धि प्रवेश नही करती तथा पवित्र सुख-सम्पत्ति स्थायी रूप से उपलब्ध हो जाती है। अस्तु।



६ समीक्षण : बाहर और भीतर का समीकरण

हमारी आत्मा अनादि काल से ऐसे द्वैत भाव में उलझी हुई है कि इसका समीकरण दो भागो में विभक्त हो गया है। एक वक्त जब आत्मा किसी उलझन मे फॅस जाती है तो उस उलझन से उसका निकास होना बडा कठिन होता है। आत्मा को पुन. श्रेय मार्ग पर गतिशील बनाने के लिए तदनुरूप यत्न करना परमावश्यक होता है। किसी शिला के नीचे किसी का हाथ आ जाता है तो उस शिला के नीचे से अपने हाथ को वापिस बाहर निकालने के लिए काफी श्रम, साहस और बुद्धि से कार्य करना होता है, जो सहज नही होता है। सारा बल लगाकर झटके से हाथ को बाहर निकालने की कोशिश की जाती है तो अगुलियों के टूट जाने का खतरा रहता है और अन्य हानि भी हो सकती है, पूरी सावधानी जरूरी होती है। उस समय श्रम, साहस और बुद्धि की परीक्षा होती है कि हाथ को किसी भी तरह की हानि भी नही पहुँचे तथा वह सहज रूप में शिला के नीचे से निकल जावे। उस समय भीतर और बाहर की एक-रूपता की जरूरत होती है। मनोयोग भी उस तरफ तटस्थ भाव से सतर्कता पूर्वक लगा हुआ हो और शरीर के सचालन मे भी पूरी सावधानी हो। इस एकरूपता के आधार को ही हम समीक्षण ध्यान की सज्ञा प्रदान करते है।

यह तो एक छोटी-सी बात है। जहाँ अपनी आत्मा को किसी उलझन मे से निकालने की समस्या सामने हो तब अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने अथक् श्रम, अटूट साहस तथा कर्मठ बुद्धि की आवश्यकता होगी। उसके लिए तो बाहर और भीतर की घनिष्ठ एक-रूपता चाहिए। ऐसी एकरूपता कि मन, वचन तथा काया के सम्पूर्ण योग एक जूट बन जावे। समीक्षण की साधना गहनतम बन जावे।

कर्मो की शिला के नीचे आत्ममुक्ति का उपाय समीक्षण

यह आत्मा बहुत समय से शिला के तुल्य कर्मो के भार के नीचे दबी

हुई है। इन कर्मो के भार से छुटकारा पाना अथवा दूसरे शब्दो मे कर्मो की शिलाओं के नीचे से आत्मा की दबी हुई शक्तियो को बाहर निकालना इतना सहज और सरल कार्य नही है। इसमें कठिनता अवश्य है, लेकिन यह कोई असम्भव कार्य नही है। समीक्षण की साधना-पद्धति इस कठिनतम कार्य को सुकर बना देती है।

जिस किसी आत्मा ने सम्यग्ज्ञान के प्रकाश मे अपने मूल स्वरूप को पहिचाना है, अपनी शक्तियो का समीक्षण किया है तथा उन्हे प्रकट करने का सकल्प बनाया है एवं बाहर और भीतर की पूर्ण एकरूपता के साथ उस दिशा मे निरन्तर चला है तो वह अवश्य सफल भी हुआ है। इस सफलता की आधारशिला बाहर और भीतर की एकरूपता ही रही है। वही पुरुषार्थ सफल होता आया है तथा सफल होता है जो बाहर और भीतर की एकरूपता पर आधारित रहता है। कर्मो की शिलाओ के नीचे से आत्मा के छुटकारे के लिये ऐसी एकरूपता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है।

चतुर्गति संसार में भ्रमण करते हुए एक ही स्थान ऐसा है कि जिस स्थान पर इस सत्पुरुषार्थ का विवेक जागृत हो सकता है, और वह स्थान और समय होता है मनुष्य जीवन का। मनुष्य जीवन में जब सत्सग का आश्रय लिया जाता है तो उस विवेक के जागृत एवं कार्यरत होने मे सन्देह नही रह जाता है। यही जीवन काल होता है जब भूत और भविष्यत् की दोनों कल्पनाओं को सामने रखकर वर्तमान को भव्य बनाने का सुन्दरतम साध्य साधा जा सकता है एवं जीवन को समग्र रूप से पहिचाना जा सकता है। यदि मनुष्य भूतकाल के आधार पर वर्तमान का चिन्तन करे कि किस प्रकार के कार्य, व्यवहार एवं स्वभाव के कारण यह आत्मा कर्मो के भार के नीचे दबी है और अब आत्मा अपने स्वभाव, व्यवहार तथा कार्य मे किस प्रकार का परिवर्तन किया जावे, जिससे वह कर्म भार को अपने ऊपर से हटा सके और अपनी शक्तियों का सम्यग् विकास कर सके ? क्योंकि वर्तमान के परिवर्तन के आधार पर ही श्रेष्ठ भविष्य का निर्माण किया जा सकता है। इस रूप में भविष्य का आदर्श वर्तमान से सामने रहता है तो परिवर्तन की प्रक्रिया सहज बन जाती है। भविष्य का आदर्श होना चाहिए—सिद्ध स्वरूप। आत्मा को अपने सम्पूर्ण सत्पुरुषार्थ के फलस्वरूप इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये जिस साधना-

पद्धति की अपेक्षा है वह है ध्यान साधना–समीक्षण ध्यान साधना। जिसके द्वारा हम अन्तर्बाह्य–उभय वृत्तियों का समीकरण कर लेते है, जो सिद्ध स्वरूप की मूल भूमिका है।

लक्ष्य जब सामने रहता है तो उसके अनुरूप वर्तमान जीवन को ढालने के प्रति एकाग्रता का निर्माण होता है। यह जो एकाग्रता है, वही सम्पूर्ण योगो की एकरूपता पर बल देती है और यह एकरूपता जितनी घनिष्ठ बनती है, जीवन की गति लक्ष्य के प्रति उतनी ही केन्द्रित बन जाती है। फिर यही प्रमुख ध्यान रहता है कि मुझे भविष्य के आदर्श एव लक्ष्य के अनुसार इस वर्तमान जीवन को श्रेयस्कर बनाना है तथा श्रेय-मार्ग पर चलना है। ऐसी निष्ठा जब बन जाती है तो आत्मा को कर्मों की शिला के नीचे से छुटकारा दिलाने मे अधिक कठिनाई नही रह जाती है।

लक्ष्य के समीक्षण से बाहर-भीतर की एकरूपता

आपने धनुर्धर अर्जुन के लक्ष्य-वेध की कहानी सुनी होगी—जव द्रोणाचार्य ने वृक्ष पर रखी हुई काष्ठ की चिडिया की आँख मे तीर चलाने का और अपनी कुशलता का परिचय देने का सभी शिष्यो को निर्देश दिया तो सभी ने कहा कि उन्हे सभी बैठे हुए लोग, चिड़िया और सारा दृश्य दिखाई दे रहा है। केवल अर्जुन ने ही कहा कि उसे चिडिया की आँख के अलावा कुछ भी दिखाई नही दे रहा है और इस एकाग्रता के कारण उसी का निशाना ठीक लगा। जव सम्पूर्ण एकाग्रता से, समीक्षण दृष्टि से कोई लक्ष्य की तरफ देखता है तो उसके मन, वचन, काया के सम्पूर्ण योग-व्यापार की एकरूपता वन जाती है। ऐसी वाहर और भीतर की सम्पूर्ण एकरूपता के आधार पर ही सफल लक्ष्य-वेध हो सकता है। समीक्षण द्वारा केन्द्रित लक्ष्य के प्रति ही ऐसी एकरूपता सधती है।

ऐसी सुदृढ एकाग्रता एवं एकरूपता की मन.स्थिति मे लक्ष्य मार्ग पर चलते हुए चाहे कैसी और कितनी ही वाधाएँ आवे, उनसे सफल संघर्ष करने का साहस सहज ही मे जागृत हो जाता है। व्यक्ति उन वाधाओं को साहस एवं धैर्य पूर्वक दूर करने का यत्न करता है। कहा है—'श्रेयासि वहुविघ्नानि' अर्थात् कल्याण कार्य मे अनेक वाधाएँ आती ही है। लेकिन श्रेय कार्यो में संलग्न पुरुप उन वाधाओ तथा विघ्नो के वीच में भी

अविचलित गति से चलते रहते है क्योकि इस दृढ़ता में उनकी बाहर और भीतर की एकरूपता रूप समीक्षरण साधना पग-पग पर सहायता करती है ।

अपने योग को साध लेने वाले श्रेष्ठ पुरुष विघ्नो से संघर्ष करके भी अपने अभीष्ट स्थान तक पहुँचने का सफल प्रयत्न करते है । विघ्नों की आँधियों और बाधाओं के तूफानों से वे कभी भी अपने श्रेय मार्ग का परित्याग नही करते है, वल्कि दृढतापूर्वक अपने मार्ग पर चलते हैं । गति में कभी तीव्रता आवे या मंदता यह दूसरी बात है । लेकिन उनकी गति इसी मार्ग पर रहती है । पवित्र मार्ग को वे अपने चरण-चिह्नो से हटने नहीं देते है । ऐसे ही सत्पुरुषार्थी पुरुष अपने निबिड़ कर्म बन्धनो को तोड़ने में सफल होते है एवं अपनी बाहर और भीतर की एकरूपता का आदर्श परिचय देते है ।

एकरूपता का प्रारम्भ कहाँ से ?

प्रश्न यह है कि ऐसी आदर्श एकरूपता को साधने के प्रयत्न का प्रारम्भ कहाॅ से किया जाय ?

किसी का कथन है कि इसका प्रारम्भ भीतर से किया जाय, क्योकि भीतर ही सब कुछ है, आत्मा का शुद्ध अनुभव ही महत्त्वपूर्ण होता है । आत्मा की सारी पवित्र शक्तियाँ आन्तरिकता में भरी हुई होती है, इसलिये यह कार्य भीतर से ही हो सकता है, बाहर से कुछ भी नही हो सकता । जबकि कुछ का कहना है कि इस कार्य का प्रारम्भ भीतर से नही, बाहर से होगा, बाहर से ही भीतर में जाया जा सकता है । यदि बाहर का व्यवहार व्यवस्थित नहीं है तो भीतर प्रवेश नही हो सकेगा ।

दोनों कथन दो शिखाओं पर है । दोनों दो अलग-अलग बातों को लेकर चल रहे है, लेकिन दोनों का एक दूसरे के साथ कोई तालमेल नही है । जब तक दोनों का समन्वय नही सधता है, दोनों को ही विफलता का मुँह देखना पड़ता है । जिस आत्मा से सयुक्त शरीर रूपी जीवन को यह दुनिया देख रही है, उस जीवन का बाहरी हिस्सा और भीतरी हिस्सा आपस में बिल्कुल कटे हुए नही है । उनका सर्वथा सम्वन्ध-विच्छेद हो— ऐसा नही है । ये दोनों हिस्से एक दूसरे से जुड़े हुए होते है, वल्कि दोनों

एक दूसरे के अभिन्न अग होते है। बाहर भीतर परस्पर भिन्न नही होते है। तलवार का दृष्टान्त ही ले ले। उसका एक हिस्सा तीखा होता है और दूसरा हिस्सा (धार) मोटा होता है, लेकिन तीखा हिस्सा भी तभी काम कर सकेगा जबकि दूसरे हिस्से का पीठ बल उसको मिले। यदि तलवार का तीक्ष्ण भाग ही कार्य करे और उसको दूसरे भाग का व बाहरी बल नही मिले तो क्या वह तलवार काम मे आ सकेगी ?

एक दृष्टि से इस जीवन को भी इसी रूप मे देखने की आवश्यकता है। ऊपर से आँख, कान, नाक आदि की सारी की सारी सरचना दीख रही है एवं उसकी प्रवृत्तियाँ भी ज्ञात हो रही है, लेकिन उनका मूल सचालन कहाँ से होता है और कहाँ से होना चाहिये—इसको जाने बिना जीवन का सदुपयोग नही किया जा सकता है। आज जीवन किसके अधीन चल रहा है और वास्तव मे उसको किसके अधीन चलना चाहिये—इसका विवेक आवश्यक है। व्यक्ति जब प्रमाद के अधीन होता है तो उसके जीवन में आत्म-शासन का अभाव दिखाई देने लगता है। नेत्र उसके अधीन नही देखते, कान सुनने में उसकी आज्ञा नही मानते और जिह्वा रसलोलुपता मे मनमानी करने लगती है। प्रमत्त अवस्था मे अनुशासन आत्मा का नही रहता, बल्कि इन्द्रियाँ आत्मा को अपने शासन मे ले लेती है। शरीर का प्रत्येक भाग या उसकी प्रत्येक इन्द्रिय आत्म-प्रदेशो से सयुक्त होती है, लेकिन आत्म-शक्ति के ऊपर ये इन्द्रियाँ तथा इनकी लोलुपता हावी हो जाती है।

एकान्तवाद से नहीं, समीक्षण से समस्या का समाधान

दार्शनिक क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न विचार भिन्न-भिन्न तरीको से आते है। किन्ही का कहना है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त नही है, बल्कि केवल हृदय स्थल में ही निवास करती है। कुछ कहते है कि नही, उसका निवास केवल मस्तिष्क मे है। ये जितने भी मत है, बुद्धि कल्पित है—पुस्तको के सहारे पर बने हुए है। जिनका सोचना सिर्फ बुद्धि तक ही सीमित रह जाता है, वे अन्दर की अनुभूति प्राप्त नही कर सकते है। लेकिन जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का भी कुशल प्रयोग करते है तथा अनुभव के क्षेत्र में उतरते है, वे आत्म-शक्ति की वास्तविक अनुभूति प्राप्त करते है। उन्हे तथ्य रूप अनुभूति के समीक्षण से सत्य का साक्षात्कार होता है। उनका व्यवहार भी तब उस सत्य से जुड़ जाता है और सत्य से

जुड़कर वह समन्वय की कला सीख लेता है, वह अन्तर का समीक्षण कर लेता है।

कोई भी एक मत एकान्त रूप से सत्य नही होता है, क्योंकि एकान्तवादिता हठ के आधार पर चलती है तथा हठ से मिथ्या मान्यताओं का ही पोषण होता है। इसलिये किसी भी, और खासतौर से वैचारिक अथवा दार्शनिक, समस्या का समाधान एकान्तवाद से नही, समन्वय से प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के बीच में रहे हुए सत्याशो को परखना-पहिचानना तथा उनको समन्वय के सूत्र में पिरोकर जीवन के विचार व व्यवहार मे उतारना—यह सद्‌विवेकी पुरुष ही कर सकता है। इसमे समन्वय का स्वरूप समझौतावादी नही होना चाहिये, क्योंकि समझौते का अर्थ पीछे पग धरना भी होता है। यह समन्वय पूर्णतः सैद्धान्तिक तथा सत्यानुगामो होना चाहिये। ऐसा समन्वय ही सच्ची अनुभूति का वाहक होता है।

जिस पुरुष का कहना है कि भीतर ही सब कुछ है और बाहर से कुछ भी ग्रहण नही किया जा सकता है, वह पुरुष बाहर से अपने व्यवहार में कोई परिवर्तन नही लाता है। वह अपने बाहर के व्यवहार को यथावत् रखता है। उसके पैर गलत रास्ते पर जावे तो जावें, उसके हाथ हिसा के लिये उतारू रहते है तो रहे। उसका तर्क यही होता है कि बाहर से कटु शब्द बोल रहा है तो उससे क्या फर्क पड़ता है—भीतर का मन ठीक रहना चाहिये। लेकिन ऐसे कथन और आचरण को क्या उचित कहा जा सकता है ? यदि भीतर ठीक है तो भला वह बुरे काम मे प्रवृत्ति ही कैसे करेगा ? यदि भीतर का जीवन पवित्र है तो पैर कभी गलत रास्ते पर नही जायेगे, हाथ कभी हिसा में नही लगेगे और मुंह कभी कटु शब्दों का उच्चारण नही करेगा। विचारों में शुद्धता होगी तो व्यवहार कभी भी अपवित्र नही होगा—यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया होती है। इसका कारण है कि अन्दर का प्रवाह ही बाहर प्रकट होता है। अन्दर कुछ और हो और बाहर कुछ और दिखाई दे—ऐसी वस्तुस्थिति नही होती है। यह समीक्षण दृष्टि नहीं है। यदि उसमे इरादतन भेद होता है तो वहाँ विषमता है, धोखाधड़ी है और एकान्तवाद की वात है। वाहर और अन्दर की स्थितियों की समीक्षात्मक एकरूपता ही वास्तविक होती है, अतः उनका समन्वय ही श्रेयस्कर है।

भीतर-बाहर का सम्बन्ध समीक्षण का विषय : तर्क का नहीं

एक व्यक्ति फिल्टर किया हुआ पानी पीना चाहता है और ऊपर के टैंक से ही वह पानी लेना चाहता है तो क्या वह सीधा वहाँ से पानी ले सकेगा ? वह पानी नल के जरिये ही उसको मिल सकेगा। नल छोटा होता है, लेकिन वह टैंक से जुडा हुआ होता है और उससे टैंक का ही पानी मिलता है। नल में आने पर भी वह पानी शुद्ध ही रहेगा, क्योकि टैंक और नल के पानी मे भिन्नता नही रहती है। नल एक तरह से टैंक का ही अग होता है, इसलिये शुद्ध या अशुद्ध जैसा पानी टैंक मे होगा, वैसा ही पानी नल से आयेगा। जैसा टैंक और नल का सम्बन्ध है, वैसा ही इस आत्मा एव शरीर का सम्बन्ध है। इस शरीर के सभी अवयवो मे आत्मा व्याप्त है। यह नही है कि वह किसी एक अवयव में ही रही हुई हो। जिनका यह कथन है कि आत्मा एक ही स्थान पर है और उस स्थान को ही पकडना है—यह गलत है और अनुभूति से परे है।

सच बात तो यह है कि भीतर-बाहर का सम्बन्ध मुख्यत: अनुभूति गत समीक्षण का विषय होता है, तर्क का नही। अनुभूति और तर्क मे फर्क होता है। तर्क सही भी हो सकता है और गलत भी। तर्क से पीछे भी हटा जा सकता है और आगे भी बढा जा सकता है। लेकिन अनुभूति सच्चे अनुभव के साथ भीतर की शक्ति को लिये हुए होती है, इसलिये गलत नही होती। अनुभव यह बताता है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर मे समस्त अवयवो मे यथास्थान व्याप्त होती है। अँगुली के ऊपरी हिस्से मे भी आत्म-प्रदेश रहे हुए है, इसीलिये अँगुली अगर आग से छू जायेगी तो उसकी वेदना मात्र अँगुली को नही, सारे शरीर को होगी। यह नही होता है कि वेदना अँगुली पर ही हो और मस्तिष्क मे शान्ति बनी रहे। नेत्र सर्प को देखते है तो क्या भय नेत्रो में ही फैलता है और कँपकँपी वही पैदा होती है ? सर्प को देखते ही सारे शरीर मे कँपकँपी छूटती है और सारा शरीर वहाँ से भागता है। यदि आत्म-प्रदेश अमुक अवयव मे ही रहते तो सारा शरीर प्रभावित नही होता। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव यह है कि शरीर के जितने अवयव व अगोपाग है, उन सबमें आत्म-प्रदेशो का निवास होता है। यह बात और है कि आत्मा अपना संचालन एक केन्द्र से करती है या अलग-अलग स्थानों से करती है। लेकिन संचालन की सूचना सारे शरीर को मिलती है और सब कुछ उसी के सहारे होता है। यह संचालनकर्ता

शरीर नहीं, भीतर का चैतन्य होता है। वही चैतन्य मन सारे शरीर को चलाता है।

भीतर और बाहर का सम्बन्ध ऐसा होता है कि वह अँधेरी रात में भी शरीर की सावधानी रख कर चलता है और किसी तरह की दुर्घटना नही घटती है। यह विवेक की जो शक्ति होती है, वह समीक्षण की शक्ति होती है और भीतर जो कुछ होता है, वही बाहर के व्यवहार में प्रकट होता है। यह आत्मा यदि भीतर पवित्र है तो वही पवित्रता बाहर प्रकट होगी, जैसे कि टैंक का ही पानी नल के जरिये से बाहर आता है। ये आँख, नाक, कान, मुँह आदि जीवन रूपी टैंक के ही नल के मुँह है और इनका जो व्यवहार दिखाई देता है, वह भीतर के विचार के अनुसार होता है। हाथ यदि सद्व्यवहार कर रहे है तो समझना होगा कि भीतर का विचार उस सद्व्यवहार का प्रेरक है। भीतर का ही चिन्तन बाहर के व्यवहार में प्रकट होता है। इसी प्रकार बाहर के व्यवहार से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके भीतर कैसा विचार होगा? यदि इन दोनों में समन्वय नहीं होगा तो दोनों तरफ गड़बड़ी हो जायेगी। इसलिये प्रारम्भ यदि बाहर से करे तो वह भीतर पहुँचेगा ही। बाहर के सद्व्यवहार से भी भीतर शुद्धि का सचार हो सकता है, तो अन्दर से प्रारम्भ करेगे तब भी वह आन्तरिकता बाहर के व्यवहार मे सशोधन लायेगी ही। बाहर से भीतर अथवा भीतर से बाहर एक ही बात है, यह समन्वयात्मक तथ्य है। इस तथ्य का स्पष्ट ज्ञान केवल अनुभूति के माध्यम से ही किया जा सकता है।

बाहर और भीतर के समीक्षण का परिणाम—कर्ममुक्ति

बाहर और भीतर के समीक्षण की विधि को भली-भाँति इस अभिप्राय से समझना है कि आत्मा को आठो कर्मो की शिला के नीचे से बाहर निकाल सकने का सूत्र हाथ लग सके। इसका सहज और सुगम सूत्र यह है कि वह सबसे पहले शरीर के सारे अवयवो में ऐसी शक्ति और क्षमता का समीक्षण करे कि नये सिरे से होने वाले गाढे कर्म-बन्धन को रोक सके। हाथ बुरे कार्यो से हटकर अच्छे कार्यो में लगे। ये नेत्र बुरे दृश्यों से दूर रहकर सदा सदाशयता के दृश्य देखे और अन्य इन्द्रियाँ भी बाहर भटकना छोड़ कर आत्मा की आन्तरिकता में रमण करने की अभ्यस्त बनें।

गृहस्थ अवस्था का भी एक जीवन है और साधु अवस्था का भी एक जीवन है। दोनों जीवनों के लिये इस प्रार्थना मे संकेत है कि—

"सयल संसारी इन्द्रिय रामी,
मुनिगण आतम रामी रे।
मुख्य पणै जे आतम रामी,
ते केवल निष्कामी रे।।

यहाँ 'सयल' शब्द से समस्त संसारी लोगो का उल्लेख है। 'सयल' से तात्पर्य यह है कि जिनको अपने हित और अहित का विवेक नही है। जो सांसारिकता में चलते हुए एक दृष्टि से बेहोशी की हालत मे चल रहे है। बेहोशी का मतलब समझ ले। जीवन निर्वाह करने के दो तरीके होते है। एक तो यह है कि अपनी आय के अनुसार खर्च किया जाय और दूसरा यह है कि खर्च का कोई विचार नही रख कर कर्ज करते जावे। पहला तरीका होश का तरीका है तो दूसरा बेहोशी का तरीका है। इसे ही कर्म-बन्धन के सदर्भ मे देखे। आत्मा नये कर्मो के बन्धन से रुके और कर्ज नही बढावे—यह बाहर और भीतर की एकरूपता का और समीक्षण साधना का परिणाम होता है। जो सासारिकता में रच–पच कर बेहोशी से चलते है, उन्हे इस बात का भान नही होता है कि वे किस प्रकार पग-पग पर नये कर्मो का बन्धन करते हुए आत्मा को कर्मो की शिला के नीचे ज्यादा-से-ज्यादा दबाते रहते है। यह इसलिए होता है कि वे भीतर को नही समझते और बाहर को नियंत्रित नही कर पाते। इस बेहोशी को दूर करने का उपाय यह है कि भीतर को समझे तथा भीतर बाहर को एकरूप बनावे।

अन्तर-बाहर को समीक्षण से जोड़ें

वर्तमान जीवन को टिकाने के लिए बाहर की दृष्टि से भी आवश्यक सामग्री की अपेक्षा रहती है। उसके लिये इन्सान हाथ पैर हिलाता है—काम करता है। लेकिन इसके साथ-साथ यदि वह ऐसा व्यवहार बनावे कि शरीर को चलाने मात्र के लिए या परिवार के लिये जितना चाहिए उतना ही अर्जित करे और बाहर को भीतर से जोड़ कर रखे तो भीतर के श्रेष्ठ लक्ष्य की तरफ उस आत्मा की गति हो सकती है। विवेकवान् पुरुष ऐसे ही व्यवसाय को अपनायेगा जिसमे अनीति और महा–आरम्भ

की स्थिति नही हो। महा–आरम्भ वह है जिसमें भयंकर हिंसा होती हो, पंचेन्द्रिय तक की घात हो। महा–आरम्भ महापाप होता है, इसलिए बाहर और भीतर को जोड़कर चलने वाला पुरुष महा–आरम्भ से बचकर चलता है, क्योंकि गृहस्थ जीवन में सामान्यतया अल्पारम्भ से बचा नही जा सकता है तथा अल्पारम्भ के अल्प पाप का निवारण भी आसान होता है।

व्यवसाय का समीक्षण

जिस किसी धन्धे का एक सद्गृहस्थ चयन करे, वह महा-आरम्भ वाला नही होना चाहिये – यह शास्त्रकारों का निर्देश है। भगवान् महावीर के व अन्य तीर्थंकरो के जो श्रावक हुए है वे इस तरह का विवेक लेकर चलते थे। चाहे व्यवसाय की दृष्टि से वे खेती करते थे, लेकिन उसमें भी पूरा विवेक रखते थे। विवेक पूर्ण खेती के धन्धे में महा-आरम्भ नही होता है और भी कई धधे अल्पारम्भ के हो सकते है। इसके विपरीत कई धधे महा-आरम्भ के होते है, परन्तु ऊपर से महारम्भ जैसा नही दिखलाई पड़ता है। आप ब्याज लेने के ही धधे को लीजिए। ऊपर से यह लगता है कि इसमें चीटी की टांग को भी चोट नही लगती, लेकिन असल मे यह धन्धा कितना शोषक और मानव रक्त को पीने वाला हो गया है, जिसका अनुभव आप में से कई लोगो को होगा। कोई भी धन्धा हो—अपने स्वार्थ पर आधारित ही नही हो बल्कि दूसरों को सहयोग देने की भावना वाला भी हो। पहले कोई सार्थवाह व्यापार के निमित्त जहाज लेकर विदेशो के लिये चलता था, तो नगर मे जाहिर सूचना करवा देता और जो भी चलना चाहते, सबको व्यापारिक सहयोग देता। उसकी वृत्तियो मे उदारता होती थी।

तात्पर्य यह है कि धन्धा या व्यवसाय यह बाहर की प्रवृत्ति होती है, लेकिन यह प्रवृत्ति भी समीक्षण द्वारा भीतर की सद्वृत्ति से जुडी होनी चाहिये। कोई-कोई कह देते है कि धन्धे मे धर्म नही देखा जाता याने कि धन्धे में उचित-अनुचित सब कुछ करना उचित है। यह गलत दृष्टिकोण है और अन्त.करण को अनैतिकता से रँगने वाला है। ब्याज खोरी के धन्धे का आज का रूप महा-आरम्भ वाला हो गया है और ऐसी विकृति इसी कारण आती है कि बाहर को भीतर से जोडकर नही रखा जाता है और ऐसी मनोदशा में समीक्षण का श्रेष्ठ लक्ष्य भी सामने नही रह पाता है।

सुनने को मिला कि उड़िया जाति परिश्रमशील होते हुए भी गरीब होती है। अन्य पुरुष उडिया जाति की परम्परा मे नहीं होते हुए भी धनवान् पाये जाते है। ऐसा क्यों ? इस रहस्य को प्रकट करते हुए कहा गया कि जो बाहर के व्यापारी यहाँ आकर के रहे हुए है, वे ब्याज का व्यापार करते है। उड़ीसा मे चावल की उपज अधिक होती है। चावल पकने मे कुछ महिने अवशेष रहते है। उड़िया निवासी ऐसे समय पर व्यापारी के पास जाते है और कहते है सेठ १०० (सौ) रुपये चाहिए। चावलो की फसल आने तक के लिए वह रुपये देना है। ब्याज मे छिलके सहित एक बोरी चावल लेता है। यह बात वस्तुतः सत्य है, तो कल्पना करिये कि १००) रुपये के तीन मास का ब्याज छिलके वाले एक बोरी चावल लेता है। वह चावल कितने रुपये का होता है, इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ब्याज लेने वाला देने वाले के परिवार की कितनी क्या दुर्दशा करता है ? ऐसे पुरुषों के मन मे मनुष्यों के प्रति दया भी नही रहती है। इस प्रकार कितने मानवीय परिवारो का अहित होता है यह अविदित नही रह पाता है।

मानव परिवार का इतना अहित विवेक पूर्वक खेती करने वालो के कैसे हो सकता है ? ऐसे ब्याज के व्यवसाय से खेती के धन्धे की तुलना करने वाला खेती की अपेक्षा ब्याज का व्यवसाय कितना हीन एव न्यून स्तर का है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, प्रभु महावीर के पास आनन्दजी श्रावक ने बारह व्रत स्वीकार किये। उस समय ५०० सौ हलवा कृषि आदि की जमीन एव अन्यान्य मर्यादा के साथ ४०,००० गायो के सपोषण की भी मर्यादा रखी थी। यदि कृषि कर्म महापाप का कृत्य होता तो प्रभु महावीर आनन्दजी श्रावक को फरमाते कि कृषि कर्म करने वाला श्रावक की श्रेणी के अन्तर्गत नही रह सकता है, किन्तु प्रभु ने कृषि कर्म का निषेध नही किया। इसी प्रकार अन्य श्रावको के वृत्तान्तो से भी न्यूनाधिक रूप मे खेती–गोकुल आदि का वर्णन मिलता है।

समीक्षण द्वारा भीतर बाहर का मूल्यांकन

वाहर की कसौटी पर भीतर का तथा भीतर की कसौटी पर बाहर का मूल्याकन किया जा सके और वैसा मूल्यांकन खरा उतरे, तब समझना चाहिये कि बाहर और भीतर की एकरूपता स्थापित हो गई है। जो भीतर होगा वही वाहर के व्यवहार मे प्रकट होगा तथा वाहर के व्यवहार

से पक्का अनुमान लगाया जा सकेगा कि भीतर का विचार कैसा है? बाहर और भीतर जब एकरूप बनकर सदाचरण की दिशा मे गति करते है, तब वहाँ पर आत्मा के व समग्र जीवन के कल्याण का प्रसंग बनता है। इस मूल्यांकन का मूल आधार होगा– समीक्षण ध्यान।

बाहर के व्यवहार की तरफ आपका ध्यान एक प्रसंग द्वारा दिलाऊँ—मै जब उड़ीसा में विहार कर रहा था तब बंगूमुंडा गाँव मे मुझे सुनने को मिला कि एक उड़िया व्यक्ति ने किसी व्यापारी से २०) रु० उधार लिये थे। उस व्यापारी ने ब्याज जोड़कर थोड़े दिनों में ही १००) रु० बना लिये। उस बीच मे पालिका या पचायत का चुनाव आ गया और वह व्यापारी भी उसमे उम्मीदवार बना। उसने उस उडिया से कहा कि तू मुझको वोट देना और देगा तो तेरे बकाया रुपये माफ कर दूँगा वरना तुरन्त वसूल करूँगा। सयोग वश उसने दूसरे उम्मीदवार को वोट दे दिया और उसका उसको पता चल गया। फिर क्या था, उसने दावा किया, कुड़की लाया व कच्ची झौपडी को नीलाम कराने लगा। उसकी पत्नी गर्भवती थी जिसके लिये उसने पाँच दस सेर धान जमा कर रखा था, उसको तथा टूटे-फूटे बरतनों को, कपडो को सबको नीलाम करवा दिया। उसकी पत्नी बहुत रोयी, वह गर्भवती थी, अत उसने दया की भीख माँगी, परन्तु उसका हृदय नही पसीजा। आखिर उस व्यक्ति को अति क्रोध आ गया और वह लकड़ी लेकर बाजार में गया और सेठ के सिर पर वार कर दिया। समीप खड़े अन्य व्यक्तियो ने लाठी छीनकर सेठ को दे दी और सेठ ने ऐसा मारा कि वह उड़िया खत्म हो गया। वह व्यापारी प्रसन्न हो रहा था कि वोट नही देने का खूब मजा चखाया। ऐसे व्यवहार को आप क्या कहेगे और ऐसे व्यवहार से उसके भीतर का क्या अनुमान लगायेंगे कि वह दिल से कितना काला और क्रूर था? यह कैसा धन्धा है और यह मनुष्य को मनुष्यता से भी कितना पतित बना देता है? अन्त मे उस व्यापारी के उस केस मे हजारो रुपये पूरे हो गये।

इस बाहर के व्यवहार की तरफ इसलिये बल देना चाहता हूँ कि सभी को इसके सम्बन्ध में अपने-अपने धन्धे, व्यवसाय अथवा सामान्य व्यवहार की आलोचना स्वयं करने का अवसर मिले तथा स्वय अनुमान लगा सके कि ऐसे धन्धे के या अन्य किसी भी बात के निमित्त बाहर का जो व्यवहार किया जाता है उस समय भीतर का विचार कितना निर्दय,

कठोर और क्रूर हो जाता है ? और यदि ऐसा होता है तो मानना पड़ेगा कि वह बाहर भी मैला है और भीतर भी मैला है। इसलिये आलोचना इस दृष्टि से करनी चाहिये कि बाहर की कसौटी पर भीतर का और भीतर की कसौटी पर बाहर का मूल्यांकन हो तथा दोनो को एकरूप बनाते हुए दोनों के समीक्षण तथा परिमार्जन के उपाय करते रहे।

समीक्षण महानता की उपलब्धि

इस प्रकार की एकरूपता से महानता की उपलब्धि होती है और महानता सदा ही आत्मोन्नति से सम्बन्धित होती है। संसारी व्यक्तियों में ऐसे भी होते है जो ऐसा क्रूरतापूर्ण ब्याज का अथवा महा–आरम्भ का धन्धा नही करते तथा चौबीसों घटे नैतिकता का तथा भीतर के विचार व बाहर के व्यवहार की शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखते है। इन्द्रियों की आसक्ति से भी वे दूर रहते है तथा आत्मार्थी बनकर जीवन को लोकोपकार मे नियोजित कर देते है। ऐसे पुरुष संसार को त्याग कर मुनि-धर्म के साधना पथ पर भी अग्रसर होते है।

जीवन के इस आध्यात्मिक समीक्षण के प्रति किसी को भी उपेक्षित नही रहना चाहिये और यथाशक्ति इस दिशा में प्रवृत्ति करनी चाहिये। बाहर के अपने व्यवहार को देखे—भीतर के विचार की समीक्षा करें और दोनो स्रोतों से सौजन्य का प्रवाह प्रवाहित करें, तो समीक्षण ध्यान–साधना की गहनता मे सहज ही प्रवेश होगा और वह साधना परम आनन्द, अतुलित शान्ति के द्वार तक पहुँचा देगी। उस साधना मे प्रवेश कर मंगल-मुखी आचरण की ओर अग्रसर बनें।



७ अहं वृत्ति का समीक्षण

समीक्षण ध्यान साधना पद्धति का केन्द्रीय भाव है कि हम भूत, भविष्यत् को गौण कर वर्तमान की परिक्रमा करे—वर्तमान का समीक्षण करे। भूत व्यतीत हो गया और भविष्यत् अभी आया नही है। वर्तमान प्रतिक्षण बरत रहा है- इस दृष्टि से वर्तमान के क्षण ही विशेष महत्त्वपूर्ण क्षण होते है। यह समय भी भूत मे जाने वाला है लेकिन यदि इस समय को सार्थक कर लिया तो समझिये कि इस जीवन की वास्तविक सार्थकता प्रतिफलित हो जाएगी। हम विद्वान् एव पण्डित की विभिन्न परिभाषाएँ करते है। किन्तु प्रभु महावीर के दर्शन में विद्वत्ता अथवा पाण्डित्य को समय की सार्थकता के साथ जोड़ा गया है भ० महावीर ने कहा है—

"खणं जाणाहि पडिए" अर्थात् पडित वही है जो एक-एक क्षण को जानता है याने कि एक क्षण को भी महत्त्वपूर्ण मानता है और उसको आत्म-कल्याण के पवित्र कार्य मे नियोजित करता है। जीवन और आत्म-समीक्षण मे लगाता है। यह वीतराग देव की उद्घोषणा है। इसमे क्षण का अर्थ सिर्फ समय काल खण्ड तक ही सीमित नही है। इस क्षण का बहुत विशाल एवं विराट् अर्थ है। इस समय इस क्षण का अर्थ इस मनुष्य जीवन से लिया जाय। इसलिये जो इस मनुष्य जीवन के अमित महत्त्व को समझ कर इसको साध लेता है, वही पण्डित है। किन्तु मनुष्य जीवन के महत्त्व की जानकारी मस्तिष्क तक ही सीमित नही रहनी चाहिये, अपितु अन्त.करण मे उतर जानी चाहिये और जीवन के अणु-अणु मे व्याप्त हो जानी चाहिये। जब जीवन का प्रत्येक अणु, प्रत्येक क्षण तथा प्रत्येक छोर इस ज्ञान से प्रभावित हो जाता है, तो उसकी झलक जीवन के प्रत्येक व्यवहार में स्पष्ट रूप से प्रकाशित होने लग जाती है।

समीक्षण बौद्धिक नहीं, आत्मिक

जीवन का इसी क्षण समीक्षण करिये, अर्थात् एक क्षण को भी व्यर्थ

न जाने दीजिये तथा उस क्षण को साधिये अर्थात् सार्थक बनाइये। वस्तुतः जीवन इसी क्षण चमक सकता है, जिस क्षण जीवन का समीक्षण होता है, उसी क्षण से आत्मिक स्वरूप के लिये प्रतिक्षण को कार्य रूप मे परिणित करने लगता है। ऐसी अलभ्य परिणति को विरले भव्य पुरुष ही अपने जीवन मे उद्घाटित कर सकते है।

कोई व्यक्ति वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तो के आधार पर कुछ जान भी लेता है। लेकिन जब उसका जानना मस्तिष्क तक ही सीमित रह जाता है तो वह जीवन में फलित नही हो सकता है। मस्तिष्क की जो कुछ भी कला है, उसे बौद्धिक कला कह सकते है। बुद्धि के साथ जब तक आन्तरिकता का पुट नही होता है तब तक बुद्धि की कला भी महज कलाबाजी ही रह जाती है। वैज्ञानिक एव भौतिक क्षेत्रो मे जो कार्य किया जाता है, वह बौद्धिक कला के प्रभाव से होता है। उसमें भी यदि आन्तरिकता का अभाव हो तो वह बुद्धि वहाँ भी स्वार्थ और क्रूरता से भ्रष्ट बन जाती है। लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रगति करने के लिये तो इस बुद्धि का प्रयोग आन्तरिकता से ओतप्रोत होना चाहिये। जहॉ सिर्फ मस्तिष्क की कसरत होती है, वहॉ जीवन की आन्तरिक अनुभूति का अभाव ही रहता है तथा उस अनुभूति के बिना समीक्षण दृष्टि भी शिथिल हो जाती है। बुद्धि की वह कला, चाहे बाहर से स्वय आत्मिक स्वरूप का सही प्रतिपादन भी कर रही हो, लेकिन वह अनुभूति-मूलक समीक्षण के बिना अपनी आत्मा के कल्याण मे सहायक नही बन सकती है। निज स्वरूप के समीक्षण के बिना सारा जीवन डालडा घी की तरह नकली ही बना रहता है। परिणामस्वरूप ऐसा कलाबाज व्यक्ति आध्यात्मिक विचारो का कुशल वक्ता हो सकता है, लेकिन स्वय उस आध्यात्मिकता का मर्म पहिचान नही पाता है। इसके लिये मनुष्य का अत:करण समीक्षण की साधना से भीगना चाहिये, वहॉ उसमें तरलता और सरलता आनी चाहिये।

वर्तमान जीवन जितनी मिलावट और जितना नकलीपन का चल रहा है, उतनी ही उसकी मौलिकता प्रकट नही हो पा रही है। आज के मनुष्य की बहुत कुछ गति अर्जित वृत्तियो की अगीकृति के साथ चल रही है, वह अपने मूल स्वभाव के समीप पहुँचने की चेष्टा नही कर रहा है और जो जीवन मूल स्वभाव से दूर चल रहा है, वह उसमे किन्ही भी भावो के

साथ बह जाता है। जिन भावों की पुनः पुनः आवृत्ति मन में होती है, उनका भी वह ठीक से समीक्षण नही करता है। वह यही नही देखता या देखना नही जानता कि कौन से भाव असली और निजत्व की जानकारी कराने वाले है तथा कौन से भाव नकली होकर स्वय को भी छलने वाले है ? यह देखना और जानना तथा आत्म-भावो का समीक्षण कर उन्हे अपनाना—भी क्षण को साधना है। बुद्धि अनुभूति से जुड कर प्रतिक्षण आत्म-समीक्षण करती रहे तथा आचरण में ढल कर आत्म-कल्याण को साधती रहे तो वह क्षण सध जाता है और क्षण-क्षण से सारा जीवन सध जाता है।

समीक्षण का अभाव, अहं का फैलाव

जन्म के समय में जो स्वाभाविक भाव थे, वे जन्मजात भाव थे। उनमें निश्छलता थी। लेकिन बच्चा ज्यों-ज्यो समझ पकड़ता जाता है तो अपने चारो ओर के वातावरण से, शिक्षण से और आचरण से नये-नये भावो को ग्रहण करता रहता है। ये अर्जित भाव कहलाते है। और ये अर्जित भाव जिस रूप मे स्थायी बनते जाते है, अपने दायरों में बच्चे को जकड़ते जाते है।

संसार में वर्तमान जीवन का जो वायु मण्डल है, वह अधिकांश रूप से भौतिकता के सस्कारों से प्रभावित है और उस भौतिकता के भावो की प्रबलता के कारण जोवन में कषायों का भी बाहुल्य है। एक व्यक्ति को इस जीवन में कुछ भौतिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है तो उसके प्रति राग भाव पैदा हो जाता है। यही राग भाव विभिन्न सम्बन्धों के साथ अपने परिवार जन एवं अन्य व्यक्तियो के प्रति भी बन जाता है। इसी राग भाव से अप्राप्त भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त करने की लालसा पैदा होती है। जब राग भाव किन्ही पदार्थो या व्यक्तियो के प्रति गहरा बनता है तो उसको अपने ही लिये सुरक्षित रखने की भावना वलवती बनती जाती है। जो भी उस सुरक्षा को तोड़ने की कोशिश करता है, या उसमे वाधक वनता है, उसके विरुद्ध द्वेष भाव की उत्पत्ति होती है। राग की प्रतिक्रिया के रूप में द्वेष पैदा होता है। इस राग-द्वेष की परिणति में अन्य कषाय भाव पैदा होते है, और स्थायी रूप से आत्मा के साथ रमते जाते है। ये कपाय भाव होते है—क्रोध के, मान के, माया के और लोभ के। राग-द्वेष के मूल में ममत्व होता है और ममत्व से क्रोध, मान, माया तथा लोभ के

भाव पैदा होते है। ये सब कषाय भाव आत्मा के मूल स्वभाव को दवा देते है।

कषाय के इन्ही भावो में मान का भाव मनुष्य को मदमस्त बना देता है। मेरे पास इतना वैभव है, मेरे परिवार जन ऐसे है, मेरा पद इतना प्रभावशाली है, मै ऐसा विद्वान् हूँ, बलशाली हूँ—इस प्रकार के विचारो से मनुष्य के मन मे अहकार के भाव प्रबल बन जाते है। यह अहकार की वृत्ति, मनुष्य को इस रूप में केवल बाहरी वृत्तियो मे केन्द्रित बना देती है कि वह अपने अन्तःकरण की तरफ झाँकना ही भूल जाता है। अहकार की वृत्ति जितनी सघन बनती जाती है, उतना ही वह व्यक्ति आत्मा की अनुभूति से दूर हो जाता है। अहकार बाहरी पदार्थो, तत्त्वो व सम्वन्धो पर टिका हुआ होता है, जबकि मूल अह याने "मै" स्वय आत्मा होती है। अहकार की वृत्ति इतनी जटिल होती है कि इसमें अहं दब जाता है और आत्मानुभूति नही जैसी बन जाती है।

जो कपाय के भाव व्यक्ति के जीवन में फैलते है और सुदृढ वन जाते है, वे सब अर्जित भाव होते है। ये अर्जित भाव अधिकतर भौतिकता प्रधान होते है, नास्तिकता का पुट लिये हुए होते है अथवा अन्य किसी परिवेश मे आत्म-भावो के साथ सलग्न हो जाते है। साधारण व्यक्ति की बुद्धि में इतना विवेक नही होता है कि वह इन आते हुए भावो के आत्म-घातक प्रभाव को समझे तथा इनको अपने संयमित मन के द्वारा रोके। वह उस वायुमण्डल को भी स्पष्ट रूप से नही समझ पाता है कि उसमें किन-किन भावो की मिलावट रही हुई है? कौन-कौन से भाव निज स्वरूप को समुन्नत बनाने वाले है और कौन से भाव उसको विकृत वनाने वाले है? ऐसी परख वुद्धि, सामान्य जन मे नही होती है। इसी कारण विभिन्न काषायिक वृत्तियाँ उसके जीवन को घेर लेती है। मुख्यतः अहकार की वृत्ति उसके जीवन की विकासशील चेतना को लुप्त कर देती है। जब अन्तर चेतना दब जाती है तो वैसी आत्मा उन काषायिक वृत्तियो के अधीन बन जाती है और अपने स्वभाव को ही भूल जाती है।

विकृत वृत्तियों से आत्मा की परवशता

काषायिक भावो का समीक्षण करे तो विदित होगा कि यह वर्तमान जीवन वड़ा वेडौल वना हुआ है। व्यक्ति इन भावो के वशीभूत

होकर ही स्वय के जीवन का समीक्षण नही कर पाता है और न ही आत्मा के मूल स्वभाव के सम्बन्ध में अनुचितन कर पाता है। उसका समीक्षण अथवा चितन इस धरातल पर स्थित नही रह पाता है कि मै मनुष्य हूँ, मुझे यह अमूल्य जीवन मिला है, तो मै मनुष्यता तथा निज स्वरूप के सही विकास की दिशा मे आगे बढू और इसी कारण वह यह समीक्षण भी नही कर पाता है कि 'मेरे मनुष्यता के कर्तव्य क्या है ? व मै अपने जीवन के उन कर्तव्यों का पालन कर रहा हूँ अथवा नही ?' उसकी मनोदशा किकर्तव्य विमूढ़ जैसी बनी रहती है।

उसकी ऐसी मनोदशा इस कारण बनी रहती है कि उसके जीवन को अर्जित भावो ने घेर लिया है और वे अर्जित भाव प्रबल रूप से उसको अपने अनुशासन में चलाते है। कभी-कभी सम्यक्दृष्टि आत्मा भी ऐसे भावों मे बह जाती है। वह सोच भी नही पाती कि कौनसा कार्य किस दृष्टि से किया जा रहा है ? वह इन भावो के अधीन हो जाता है। आत्मा की ऐसी परवशता उसकी अपनी क्रियाशीलता को शिथिल बना देती है। ऐसा व्यक्ति इरादतन नही, लेकिन इन अहकार आदि वृत्तियो से परवश होकर कुछ का कुछ कर बैठता है।

इस परवशता का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत होता है। कई बार यह परवशता मादक पदार्थो एव मादक वृत्तियो के कारण पैदा होती है। मादकता तो बहुत ही घटिया किस्म की परवशता होती है लेकिन बहुत बार सभ्य तरीके की परवशता भी इन्सान को अपने अधीन बना लेती है। यह अधीनता भी ऐसी विकट होती है कि निजत्व का कही ठौर ठिकाना नही रहता। ऐसी मतिभ्रम आत्मा मिथ्यात्व के बन्धन में प्रगाढ रूप से बँध जाती है।

दशार्णभद्र का आत्म-समीक्षण

आज की क्या कहूँ, जब भूतकालीन ऐतिहासिक पृष्ठो को उलटते है तो उस समय के जन-जीवन और जन-नायकों के जीवन का स्वरूप भी आश्चर्य में डालने वाला दिखाई देता है। महावीर प्रभु के समय मे भी ऐसी परवशता की स्थिति उनके किन्ही भक्तों में दिखाई देती थी—यह अधिक आश्चर्य भरा तथ्य है। जिस मण्डल या जनपद मे तीर्थंकर देव विहार करते थे, वहाँ उनके तप-त्याग का प्रभाव पड़ता था और कई भव्य

जन परवशता की स्थिति से मुक्त भी होते थे। लोग वीतराग देवो के दिव्य जीवन के आलोक में निज स्वरूप के समीक्षण की जिज्ञासा के साथ चले—यह तो प्रमाद के अनुरूप स्थिति होती है लेकिन आत्मिक समीक्षण के साथ-साथ यदि बाह्य पदार्थों के ममत्व का वायुमण्डल भी प्रभावक बना रहे तो वह समुचित प्रतीत नही होता है।

यह सत्य है कि बाह्य पदार्थों के ममत्व का वायु मण्डल आत्मिक अनुभूति को शिथिल एव सज्ञा-शून्य बनाकर विकृति से दूषित कर देता है। कई बार भगवान् का भक्त तक भी नही समझ पाता कि उसके जीवन की गति विकृति की तरफ जा रही है और उसके जीवन मे विकृति फैलती चली जाती है। स्वय विकृत व्यक्ति अपने आपको विकृत नही मानता—यही आत्मा की विभावगत अवस्था है। उस विकृति को दूसरे विवेकशील पुरुष देखते है और उसको बताते है तथापि विकृत मानस की उस वेहोशी मे विरलो को ही होश आता है और वे अपनी विकृति को समझकर उसको दूर करने का उपाय करते है।

इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक प्रसंग उपस्थित कर रहा हूँ, जिसके माध्यम से यह सत्य स्पष्ट हो जायेगा कि अहकार सर्वथा हटता है तभी भीतर के 'अह' की यथार्थ अनुभूति हो सकती है।

प्राचीनकाल में दशार्णभद्र नाम के एक वहुत वडे सम्राट् राज्य करते थे। उनके पास अपार वैभव था तो नैतिकता की भी प्रचुरता थी। जन-मानस मे यही प्रचलित था कि सम्राट् एक धार्मिक नरेश है। वे महावीर प्रभु के भक्त थे, इसलिए उनका चिन्तन ज्ञानपिपासु, सम्यक्दृष्टि आत्मा के अनुरूप था। उनके चिन्तन मे भौतिकता और आध्यात्मिकता का भेद स्पष्ट था तथा वे मानते थे कि मेरा यह प्राप्त वैभव पराया है। मेरा अपना तो आत्म रूप है, वह निखरता रहना चाहिए। उनकी धारणा यह भी थी कि आसक्ति घटनी चाहिए और निर्लिप्त वृत्ति का विकास होना चाहिए। एक वार भगवान् महावीर का उनकी राजधानी मे आगमन हुआ। उनकी अन्तर अभिलाषा हुई कि प्रभु के दर्शन करने के लिए चला जावे।

सम्राट् ने इस प्रकार के भावो की एक आज्ञा प्रसारित की कि जो भी प्रभु के दर्शनो का अभिलाषी हो वह मेरे साथ चले। यह आज्ञा

प्रसारित होते ही भावाभिभूत होकर नगर जन राजप्रासाद के वाहर एकत्रित होने लगे। लोगों मे अपूर्व उत्साह जाग उठा कि इस चतुर्गति संसार के मूल राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त करने वाले चक्रवर्तियों के चक्रवर्ती प्रभु महावीर यहाँ पधारे है, उनके दर्शनो से हृदय में जलने वाली कषायों की ज्वालाएँ मन्द होंगी और उनकी समवर्षिणी वाणी का रसास्वादन मिलेगा। जुलूस तैयार होने लगा। चतुरंगिणी सेना सजाकर सम्राट् तथा नागरिको ने नगर से प्रस्थान किया।

समीक्षण की उज्ज्वलधारा

इतने वैभव के साथ जब दशार्णभद्र सम्राट् उस उद्यान की तरफ चले, जहाँ महावीर प्रभु विराज रहे थे तो उनके मन के अर्जित भाव उभरकर ऊपर आने लगे—मेरे समान गौरव वाला दूसरा कोई सम्राट् इस संसार में नही है। उनके मन में अहंकार वृत्ति जागकर गहरी होने लगी। अपने वैभव का गर्व उनके भावों में व्याप्त हो गया। अहकार के इस भाव ने उस समय उनके विवेक को, उनकी आध्यात्मिक चेतना को शिथिल सा बना दिया। यह उनका अर्जित भाव था, क्योंकि जब वे जन्मे तब अहंकार की ऐसी स्थिति नही थी। वैभव मिला तो वैभव का गर्व वढ़ा और उसके साथ अहंकार बढ़ा। वही दवा हुआ अहंकार अपने उस वैभव को देखकर भड़क उठा।

वैभव से गर्व होने के सम्बन्ध मे महावीर प्रभु ने उल्लेख किया है—

"दंडाणं सल्लाणं च गारवाणं च तिहं तिहं।
जे भिक्खू चयई णिच्चं, सेन अच्छइ मंडले॥"

अर्थात् जिसमे तीन दंड, तीन शल्य और तीन गौरव, ऋद्धि का गर्व अथवा अभिमान आ जाता है, उसको समुच्चय में अहंकार कह सकते है। बाहरी तत्त्वों पर अहंकार करना और बाहरी वैभव पर मदांध वनना—यह अपने आत्मिक स्वरूप को भुलाना है। यह बेहोशी का प्रसंग है। इसे एक तरह से सभ्य वेहोशी कह सकते है। यह मदिरा की तरह वाहरी वेहोशी नही होती है। दुनिया

को मालूम होता है कि व्यक्ति होश हवास में चल रहा है। किन्तु इसमे आत्मा की बेहोशी होती है।

सम्राट् दशार्णभद्र की भी ऐसी ही स्थिति हो गई। यद्यपि वे जानते थे कि प्रभु के समवशरण में सभी प्राणी समान होते है और वे उनकी वाणी से प्रभावित होगे, फिर भी मनोभावों मे अहकार रम गया। प्रभु के समवशरण का अपूर्व प्रभाव बताया गया है कि जहाँ पहुँच कर सिह और बकरी भी अपना जन्मजात वैर भूल जाते है और सभी शान्ति तथा आनन्द के अनुभव से मुग्ध बन जाते है। वहाँ की विराट् अहिसा का व्यापक स्वरूप सभी को आध्यात्मिक भाव की प्रेरणा देता है। जहाँ अहिसा की परम प्रतिष्ठा होती है वहाँ वैर कैसे टिका रह सकता है ? पतंजलि योग दर्शन मे एक सूत्र आया है।

"अहिसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।"

इस प्रकार समवशरण की रचना के प्रभाव और स्वरूप पर सम्राट् चितन करता कि प्रभु के समवशरण मे मानसिक अन्याय वृत्तियाँ तो क्या जन्मजात की विरोधी क्रूरतम वृत्तियाँ भी समाहित हो जाती है। ऐसा जन्मजात विरोध रखने वाले प्राणी स्वय श्रद्धा में इतने ओतप्रोत हो जाते है कि जिससे अहकार आदि की वृत्तियाँ तो दर किनार रही, हिसक वृत्तियाँ भी अपना मुख विस्फारित नही कर सकती। वैसी श्रद्धा की स्मृति यदि दशार्णभद्र सम्राट् की हो जाती तो वह बाह्य वैभव की अहकार वृत्ति से ओतप्रोत नही होता। उसे उस अहकार वृत्ति के आवरण मे आंतरिक सही श्रद्धा का भी विज्ञान नही रहा। क्योंकि उसने अपने अन्दर का समीक्षण करना छोड़ बाह्य वैभव के अवलोकन में ही अन्तर के प्रभाव को मोड़ दिया। ऐसे परम भक्त श्रद्धालु पुरुषों पर भी अहवृत्ति अपना साम्राज्य स्थापित कर सकती है तो वह वृत्ति एक दृष्टि से क्रूर हिसक वृत्तियो से भी प्रवल साबित हो जाती है।

सम्राट् के अन्तर मन में भी ऐसी ही कुछ वृत्ति काम करने लगी, जिसका उनको भी भान नही हुआ। इसलिये अहंकार की विचारणा में वे आगे बढ गये। प्रभु के समीप जाते-जाते उनका चिन्तन ऐसा वना कि क्या कभी मेरे जैसी अपूर्व ऋद्धि के साथ कोई भी भक्त दर्शन करने के लिये आया होगा ? मैं ही प्रभु का ऐसा पहला भक्त होऊँगा जो इतने

वैभव के साथ उनके गौरव को बढ़ा रहा हूँ। मै प्रभु की प्रतिष्ठा को चमका रहा हूँ।

अहकार वृत्ति का ऐसा उभार सम्राट् के मन में हुआ। सोचिये कि धार्मिक क्षेत्र में आकर भी कोई ऐसा अहंकार करे तो वह कैसा अहंकार कहा जायेगा ? प्रभु तो सर्वज्ञ थे—वे अपने ज्ञान में सम्राट् के मन को देख रहे थे। किन्तु साथ ही वे वीतराग थे, अतः निर्लिप्त थे। जब प्रसंग आता तो अहकारी के अहंकार को मिटाने के लिये वे प्रतिबोध देते।

इन्द्र का चमत्कार—सम्राट् का अहंकार

लेकिन उसी समय इन्द्र भी प्रभु के दर्शन करने के लिये वहाँ पहुँचा। देवराज इन्द्र भी प्रभु का भक्त था। वीतराग प्रभु के भक्त कौन नही होते ? जितने संसार में भव्य जन है और जो अपने आत्म-कल्याण के अभिलाषी है, वे सभी वीतराग की भक्ति करते है। इन्द्र में मति, श्रुत ज्ञान के अतिरिक्त अवधि ज्ञान भी होता है। इन्द्र ने दशार्णभद्र के वैभव को भी देखा और उसके मनोगत भावो को भी समझा। उसके मन मे विचार आया कि सम्राट् प्रभु का अनन्य भक्त होते हुए भी मन में यह अभिमान क्यों करता है ? अर्थात् सोने की थाली मे यह अहंकार रूपी तांबे की मेख क्यों ? इन्द्र ने निश्चय किया कि इस सम्राट् का गर्व खर्व करके सोने की थाली में से तांबे की मेख निकाल देनी चाहिये।

सम्यक्दृष्टि आत्मा का यह लक्षण होता है कि किसी के पैर मे से काँटा भी निकालना हो तो उसका ध्यान रहता है कि उस काँटें को निकालने में भी उसको कष्ट न हो। इन्द्र भी सम्यक्दृष्टि वाला था। उसने सोचा कि दशार्णभद्र सम्राट् के मन में वैसे तो पवित्रता है, किन्तु यह अहंकार रूपी काँटा लगा हुआ है, जिसको निकाले बिना इनको 'अह' की आत्म-स्वरूप की वास्तविक अनुभूति नही हो सकेगी। यह अहकार अपनी आत्मा के आंतरिक भावों को भुलाने वाला काँटा है। सम्राट् के गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए इन्द्र ने उनके झूंठे अहकार को दूर करने का उपाय रचा।

दशार्णभद्र सम्राट् प्रभु के समवशरण से कुछ ही दूरी पर थे कि इन्द्र ने अपनी वैक्रिय लब्धि से ६४००० हाथी बना दिये। सम्राट् के पास थे केवल ५००० हाथी लेकिन इन्द्र के हाथी कोई साधारण हाथी नही थे।

हाथी ऐसे दिव्य कि एक-एक हाथी के आठ-आठ सूंड और एक-एक सूंड पर आठ-आठ दन्तशूल और एक-एक दन्तशूल पर जल वापियाँ (बावडियाँ)। एक-एक वापी मे आठ-आठ कमल खिले हुए जिनमें से प्रत्येक कमल की लाख-लाख पखुड़ियाँ। फिर यह दृश्य रचा कि एक-एक कमल के बीच मे इन्द्र सिहासनासीन है और एक-एक पखुडी पर एक-एक अप्सरा नृत्य कर रही है। ऊपर से देवो के झुंड के झुंड समवशरण की ओर नीचे उतर रहे है तथा प्रभु की जय-जयकार कर रहे है।

इस दिव्य दृश्य पर ज्यो ही दशार्णभद्र की दृष्टि पडी, उसका अहकार एक ही पल में पलायमान हो गया। वह अपनी ऋद्धि पर गर्व कर रहा था और प्रभु के गौरव को बढाने का क्षुद्र भाव ला रहा था। इस देव ऋद्धि के सामने उसकी ऋद्धि व्यर्थ, धूल के बराबर भी नही। उसका गर्व चूर-चूर हो गया। वह समझ भी गया कि अहंकार के पतन मे से उसे उबारने के लिये ही इन्द्र ने ऐसा किया होगा, किन्तु उसे अपने अहंकार का पूरा भान भी उसी समय हुआ। मेरा अहकार पराजित हुआ यह जानकर उनका मन इन्द्र के प्रति आभार से भर उठा।

तब उनकी भाव-धारा स्वस्थ बनी और समीक्षण बना कि मै यहाँ इन बाहरी तत्त्वो पर अहंकार करने लगा? ये क्या मेरे है? मुझे तो अपने आत्मिक स्वरूप को पहिचानना है। प्रभु की भव्य वाणी को जब मैं आत्मसात् करूँगा तभी उस दिशा मे आगे बढ सकूँगा और उसी आत्म-समीक्षण की उज्ज्वल धारा मे उन्होने पूर्ण त्याग का निश्चय किया, परिवार जनो से अनुमति मागी तथा प्रभु के सान्निध्य में जाकर वे दीक्षित बन गये। इन्द्र ने सोचा कि उच्चतर भौतिक वैभव को दिखाकर दशार्णभद्र के अहकारी मन को तो उसने पराजित कर दिया, लेकिन आध्यात्मिक स्वरूप से आगे बढने की मुझमें क्षमता कहाँ है। वह इन्द्र, मुनि दशार्णभद्र के सामने नतमस्तक हो गया।

आत्म-समीक्षण-अहंविसर्जन

अहंकार की वृत्ति हटती है, तभी अह याने आत्मा की सच्ची अनुभूति होती है। आत्मानुभूति होने पर ही आध्यात्मिकता जागती है और उच्चतम त्याग वृत्ति कर्मठता मे उतरती है। भगवान् महावीर की भाषा मे वह ऐसा पडित होता है जो एक-एक क्षण का समीक्षण कर लेता है।

जो पंडित पुरुष बनता है वह परम्परा से अपने मन में बैठे हुए अर्जित भावों का विवेक पूर्ण समीक्षण करता है तथा उन्हें सत् पुरुषार्थ पूर्वक दूर करता है। तभी वहाँ आत्म भावों का प्रसार सम्भव बनता है। यह वस्तुतः आन्तरिक समीक्षण के साथ पंडित बनने का प्रसंग है।

जब ऐसी आत्मिक अनुभूति जागृत होती है तो उसके माध्यम से समग्र जीवन को सार्थक बना लिया जाता है। आप भी जरा सोचे कि क्या आप लोगों के लिये भी ऐसा अवसर है कि अहंकार आदि कषाय वृत्ति को हटाकर आन्तरिक अनुभूति का समीक्षण किया जाय? अपने अन्तःकरण को प्रबल बनाइये तथा जीवन की वास्तविकता पर चिन्तन कीजिये। सूक्ष्म काषायिक वृत्तियों को छोड़े बिना आत्मिक स्वरूप का आकलन नहीं हो सकेगा। कषायें घटेंगी तभी क्रियाएँ आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण कर सकेंगी और उन आध्यात्मिक क्रियाओं के द्वारा ही आत्मानुभूति का सहज अवसर उपस्थित हो सकेगा। आत्म समीक्षण की महत्तम समुज्ज्वल साधना ही अहंकार विसर्जन के साथ 'अहं' आत्म स्वरूप के दर्शन का पाथेय बनती है।



८

जीवन के रहस्यों का अनुसंधान बनाम दण्डत्रय समीक्षण

जीवन की गहनता का ज्ञान करने के लिये मानव मस्तिष्क के अन्दर भिन्न-भिन्न प्रकार का चिन्तन प्रतिक्षण, प्रति समय प्रेरणा के रूप में चलता रहता है। अन्दर से सलग्न रूप, जो बाहर से दिखाई देने वाला रूप ही जीवन का समग्र रूप है, ऐसा जीवन के अन्तर्रहस्यो का आभास लेने वाले शोधको का विश्वास नही होता है। यह एक साधारण व्यक्ति का विश्वास हो सकता है कि वह इस बाहर दिखाई देने वाले जीवन को ही सब कुछ समझले। बाहर का दृश्य—यह एक स्थूल जगत का दृश्य है।

इसे हम अपनी सामान्य दृष्टि से देखते है। किन्तु जीवन के रहस्यो के परिज्ञान के लिये जिस दृष्टि की आवश्यकता है वह है—समीक्षण दृष्टि।

रात्रि के समय निद्रा शैया पर जब मानव—मन स्वप्न मे गोते लगाता है, उस समय वह दृश्य जगत के भी कुछ स्वप्न देखता है। जिस समय वह स्वप्न देखता है, उस समय उन दृश्यों को सही मानता है। उसे देख कर सोचता है कि वह जो कर रहा है, वह या तो सही है या गलत है, लेकिन जैसे ही निद्रा भंग होती है, उसका स्वप्न उसके लिये रस रहित हो जाता है। उस स्वप्न का रंग उड़ जाता है। अधिकाशत: वह उस स्वप्न को भूल जाता है। वह जागृत अवस्था में उस पूरे के पूरे स्वप्न को स्मृति पटल पर लाने में असमर्थ हो जाता है। जैसा उस स्वप्न का क्षण-भंगुर रूप होता है, आपेक्षिक दृष्टि से उस स्थूल जगत के दृश्यो का भी वही क्षणभंगुर स्वरूप होता है।

मनोवृत्तियों का मानक-समीक्षण

स्थूल जगत के दृश्यों मे उलझाने वाला अथवा जीवन के अन्तर्रहस्यो में रमण कराने वाला मनुष्य का मन होता है। मनुष्य के इस मन की

गति का क्या कहना ? मन कहाँ-कहाँ गति करता है और कहाँ-कहाँ गति कर सकता है, इसके सामर्थ्य का कोई स्थूल मानदण्ड नही है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह मन अपने ही धारक को कहाँ-कहाँ और किस-किस गति से दण्ड देता रहता है, और यही मन सध जाये तो मनुष्य को विकास की किन ऊँचाइयों तक लेकर चला जाता है। उसका भी कोई स्थूल पैमाना नही है। मन के कार्यकलापों अथवा इसकी चक्रव्यूह मय क्रियाओं का मापक यन्त्र केवल समीक्षण ध्यान ही है। समीक्षण ध्यान की सवैधानिक प्रक्रियाओं के द्वारा एक ओर हम मन की सूक्ष्म गतिविधियो को पकड़ते है तो दूसरी ओर जगत के सूक्ष्म रहस्यों के ज्ञाता बन, क्षणभगुर स्थूल पदार्थो से अलग हट जाते है।

जीवन के रहस्यों का अनुसन्धान

मनुष्य का मन ही वह सशक्त माध्यम है जिसकी सहायता से जीवन के रहस्यो का अनुसंधान किया जा सकता है। आवश्यकता यह है कि मन की गति स्थूल जगत् के दृश्यो से आगे और गहरे मे बढ़े। स्थूल जगत् के दृश्यों को स्वप्न की उपमा दी गई है। लेकिन इसका यह मतलब नही कि यह दिखाई देने वाला जगत् मिथ्या है। इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि यह स्थूल जगत् ही सब कुछ है—यह कथन मिथ्या है। वस्तुस्थिति यह है कि यह दृश्य जगत् भी है और इसके अन्त स्तल पर अन्तर्जगत् भी है—स्थूल जगत् भी है और सूक्ष्म जगत् भी है। सूक्ष्म जगत् क्या और कैसा है—यह जिज्ञासा तथा शोध का विषय है, और इसी जिज्ञासा तथा शोध वृत्ति को पकड़ कर जीवन के अन्तर्रहस्यों का अनुसन्धान करना समीक्षण ध्यान का अभिप्रेत है।

जीवन के रहस्यो का अनुसधान करने की जिज्ञासा रखने वाले भव्यों का जीवन निश्चित ही तथ्य एवं अर्थपूर्ण होता है। वे इस सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करते है तथा अनुसधान करते हुए आगे से आगे बढते जाते है। ज्यो-ज्यो उनका अनुसंधान गहन बनता जाता है, वे दृश्य से अदृश्य की ओर—स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर गति करने लगते है। तब उनका अन्वेषण मार्मिक बन जाता है और शाश्वत सत्य के समीप जाने लगता है। उस अवस्थान में वे स्वप्न सम स्थूल जगत् से परे हठकर परम सत्य का वरण कर सकते है। उनका अनुसधान उस समय सफलता के स्तर तक पहुँच जाता है। ऐसे परम सत्य का वरण करने की क्षमता जिस जीवन

में प्राप्त होती है, वही जीवन सार्थक होता है तथा उसके साथ ही इस मानव तन की भी सार्थकता मानी जाती है। इस सार्थकता की प्राप्ति करने का माध्यम है मन, वह मन जो आत्मा और शरीर की कड़ी के रूप में रहा हुआ है।

एक व्यक्ति अपने किसी वाहन—कार आदि से जब लम्बी यात्रा पर निकलने का विचार करता है तो पहले अपने वाहन की क्षमता तथा सुघड़ता की जाँच कर लेता है। उसे उस यात्रा के योग्य बना लेता है। इस तैयारी के साथ वह अपनी यात्रा सफलतापूर्वक पूरी कर सकता है। अगर वह ऐसी जाँच के बिना ही विवेकहीन होकर चल पड़ता है तो कह नही सकते कि उसको उस वाहन की वजह से यात्रा के दौरान भिन्न-भिन्न कष्टो को झेलना पडे और उन कष्टो के बावजूद उसकी यात्रा पूरी होवे या नही। जीवन के अन्तर्रहस्यो की खोज मे भी जो चलता है, उसके लिये यह मन उस वाहन के समान है और जो मन को साधकर नही चलता, उसकी यात्रा की सफलता का कोई भरोसा नही रहता। मन की विवेक-हीन गति को गति का नाम देना हो गलत होता है। जब मन साधे बिना गति करता है तो वह मनुष्य को कैसा-कैसा और कितना-कितना दण्ड दे सकता है, उसका वर्णन भयावह होता है।

अनुसंधान के सूत्र

भगवान् की प्रार्थना की पक्तिया एवं वीतराग वाणी रूप शास्त्र की गाथाओ मे वे विविध विधिया है, जिनमें अनुसंधान के सूत्र समाहित है। 'समीक्षण' इस शब्द रचना की सार्थकता अनुसधान मे रही हुई है। शब्द जरूर आप समझते है, सुनते है तथा उनका उच्चारण करते है, लेकिन उनके पोछे क्या गूढ अर्थ है, उसे आप बिना अनुसधान के नही जान सकते है। उस गूढ अर्थ का ज्ञान ही मनुष्य को सूक्ष्म जगत् की ओर गतिशील बनाता है।

समीक्षण ध्यान के रूप मे आध्यात्मिक शक्ति के विविध स्वरूप का जिस विधि से इस साधन विधि मे वर्णन किया गया है, वह अन्त.करण की जिज्ञासा का द्योतक है। इसी कारण वह जीवन की गहनता का भी आभास दिलाने वाला है। एक विकासोन्मुख मनुष्य की जिज्ञासा और इच्छा रहती है कि यह भी आध्यात्मिक शक्ति की परमोच्चता को प्राप्त

करे। साधना की दृष्टि से वह प्रयास भी करता है, पर उसका प्रयास सामान्यतया सफल नही रहता है, क्योंकि वह विपरीत मार्ग पकड़ लेता है।

आज बारीकी से देखे तो सर्वत्र मूल में भूल चल रही है। आज का मानव इस स्थिति को गम्भीरता से नहीं देखता कि प्रयत्न उसको किस लिये करना चाहिये तथा वह किस लिये कर रहा है? यदि उसे परम सत्य को पाना है तो उसकी शोध के लिये इस जीवन का समर्पण करना होगा, बाह्य जीवन की समग्र वृत्तियों को उस दिशा में मोड़ना होगा तथा समस्त गतिविधियों को समीक्षण ध्यान के द्वारा तदनुसार ढालना होगा। परम सत्य की प्राप्ति के लिये इन सब कार्यों को अभीष्ट मानकर चलना होगा। इसके बिना इस जीवन मे कभी भी उस परम सत्य के दर्शन नहीं हो सकते है।

महावीर प्रभु ने अपने उस आन्तरिक जीवन की अनुभूति का प्रकटीकरण जिन शब्दों मे दिया है, वे शास्त्र रूप में मानव समाज के समक्ष विद्यमान हैं। उन्होने अर्थ रूप मे जो प्रकट किया, वह वाद में शब्दों की रचना में गणधरों द्वारा गूँथा गया। उस शब्द रचना को आज उच्चारण में लेकर अनुसंधान के क्षेत्र में प्रवेश किया जा सकता है। वह वीतराग वाणी है और उसमे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जो विधियां बताई गई है, उन्ही सूत्रों के सहारे सफल अनुसधान कर सकते है।

मन की विपरीत गति से दण्ड

प्रभु महावीर ने अपनी देशना मे यह स्पष्ट उद्घोष किया है कि यह आत्मा सत्य वस्तुस्थिति को प्राप्त नही करके स्वय को दण्डित कर रही है। अर्थात् स्वयं के ऊपर स्वयं प्रहार कर रही है। यह मन विपरीत दिशा में गति करता है और वह उस गति के द्वारा अपने को ही दण्डित कर रहा है तथा उस दण्ड का सब ओर प्रहार करता रहता है। जब किसी व्यक्ति का अपने मस्तिष्क पर कोई नियन्त्रण नही हो तो उसको इस वात का भान नही रहता कि वह अपना ही डडा उठाकर खुद को ही पीटने लग जाता है ऐसे व्यक्ति को तो आप अपने सामने देखकर पागल कह देते है, लेकिन इसी आधार पर आप अपने मन की गति की समीक्षा करे और उसके कार्यों की सही आलोचना करें तो हो सकता है कि वह वाहर का पागल आपको वहुत कम पागल लगे।

जो व्यक्ति स्वय के डडे से स्वयं को ही पीटता है—स्वय ही दड ग्रहण करता है, उसको पागल की सज्ञा दी जाती है। यदि आप भगवान् महावीर की मूल वाणी का अनुसंधान करे तो यह पागलपन किस पर घटित होता है इसका आपको पता चले। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिये आत्मावलोकन एव चिन्तन का विषय है।

प्रभु महावीर ने तीन प्रकार के दड वताये है। मण दण्डे, वय दण्डे, काय दण्डे। इन दण्डो के प्रयोग से यह आत्मा स्वय को दण्डित कर रही है। आप सोचेंगे कि दंड तो सरकार के नियन्त्रण मे है, न्यायाधीश निर्णय सुनाता है, अपराधी को दण्ड भुगताया जाता है। यह दण्ड स्थूल दृष्टि का दण्ड होता है—बाह्य व्यवस्था का दण्ड है। यदि यहाँ पर भी आप कुछ बारीकी से देखेंगे तो आप जान सकेंगे कि न्यायाधीश को दण्ड क्यो देना पड़ता है। दण्ड पाने की तैयारी स्वयं व्यक्ति करता है याने कि वह जानते हुए भी ऐसा दण्डनीय अपराध करता है, जिसके कारण न्यायाधीश को उसे दण्ड देना पडता है। दण्ड ग्रहण करने की क्रिया अपराधिक प्रवृत्तियो द्वारा स्वय व्यक्ति अपने लिये वनाता है। इस दृष्टि से माने तो यह कहना पड़ेगा कि व्यक्ति स्वय दण्ड ले रहा है। किन्तु स्वय दण्ड लेते हुए भी उस तथ्य को वह मानता नही, और समझता है कि उसे दण्ड दिया जा रहा है। यदि इस तथ्य को भी वह समझने और न्यायाधीश के समक्ष अपने अन्त.करण से उस दण्ड को लेने की तत्परता बतादे तो शायद दण्ड माफ भी कर दिया जाय, जिसे हम आगमिक भाषा मे आलोचना या पश्चाताप करना कहते है और वह पश्चाताप है मनोवृत्तियो का समीक्षण।

वाहरी दण्ड की व्यवस्था भी इसी कारण होती है कि व्यक्ति स्वय के दण्ड को सही विधि से स्वय नही ले पाता है। इसलिये व्यवस्था की दृष्टि से उसको दण्ड दिया जाता है। यह दण्ड की परिभापा तथा उसका व्यवहार अलग-अलग है। शास्त्रो मे जो दण्ड वताया गया है, वह आत्मा की स्वय की दुष्प्रवृत्ति को रोकने के रूप मे होता है। दण्ड मिलता अवश्य है चाहे वह आत्मा के स्वय के विवेक से मिले अथवा प्रकृति से। इतना अवश्य है कि स्वय अपने अपराध की आलोचना करके योग्य गुरु से उसका अन्त:-करण से दण्ड ग्रहण करता है तो आत्मस्वरूप का परिष्कार होता है।

दण्डों का वर्गीकरण और उनका समीक्षण

आत्मा की स्वय की दुष्प्रवृत्ति के कारण स्वय उसको जो दण्ड

भोगना पडता है, उसको तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है, वे तीन विभाग है—मन दण्ड, वचन दण्ड और काय दण्ड। इसमें मूल भूमिका मन की होती है और मन के अशुभ विचारों का दण्ड वचन तथा शरीर को भी भुगतना पड़ता है क्योकि वाणी एव व्यवहार पर मुख्यतः मन के ही विचारो का प्रभाव पड़ता है।

प्रारम्भिक रूप में व्यक्ति मन से अपनी आत्मा को दूषित बनाता है अर्थात् मन ही आत्मा को बुरे कार्यो मे प्रवृत्ति कराता है। वही दुष्कर्म को स्थिति में उसे नरकादि दुर्गतियों में ले जाता है। यह जो मन के दण्ड की स्थिति है, यह एक दृष्टि से स्वयं आत्मा की ही अवस्था है। मन सब व्यक्तियों के पास होता है। इस दृश्यमान शरीर के भीतर मन का अवस्थान होता है और आत्मा भी इस शरीर के भीतर होती है। जितने हिस्से में आत्मा रह रही है, उतने ही हिस्से में मन रह रहा है। जितने हिस्से मे आत्मा और मन है, उतने ही हिस्से में आपका यह शरीर दीख रहा है। इस शरीर में रहता हुआ यह मन जब बुरे सकल्प करता है, बुरा चितन करता है तो उस बुरे चितन के साथ वह स्वयं उलझता है और इस आत्मा को भी उलझन मे डालकर उसे बुरे कार्य में लगवाकर दण्ड भोगवाता है। ऐसे २४ दण्डक है। दण्डक का अर्थ है—जहाँ आत्मा दण्ड का भोग करे। आप सोचे कि एक व्यक्ति शान्ति से बैठा हुआ है, लेकिन जब वह दूसरे बाहर के व्यक्तियों को देखता है—किन्ही दो व्यक्तियो की कुछ स्नेह भावना का दृश्य उसके सामने आता है तो वह सोचता है कि इन दोनों व्यक्तियों मे इतना स्नेह क्यों है ? मेरे साथ तो किसी का स्नेह नहीं है, इन दोनों मे आपस में इतना स्नेह है तो इसको तुड़वा देना चाहिये। तब वह अपने मन मे ताना-वाना बुनता है और उन व्यक्तियो के स्नेह को तोड़ने के लिये जाल रचता है। उनके स्नेह के विरुद्ध वह एक दूसरे को इधर-उधर की वातो से भिड़ाता है। ऐसी वाते करता है जिनको आप अपनी भाषा मे नारद विद्या कहते है। इसमे वह आदमी कभी-कभी सफल हो जाता है। जिस व्यक्ति के सामने जाकर उसकी मन सुहाती बात कहता है, वह उसके चक्कर में आ जाता है। भिड़ाने वाला व्यक्ति इससे खुश होता है मगर यह नही समझता कि वह अपनी ही आत्मा को धोखा दे रहा है। दूसरे व्यक्ति लडेगे या नही लेकिन उसने स्वय अपने अन्दर द्वन्द्वात्मक संघर्ष करने की दुष्प्रवृत्ति को जन्म देकर कर्म वन्धन कर ही लिया। उसका दण्ड तो उसको भोगना ही पड़ेगा। ऐसी होती है मन के सकल्प-विकल्पो

की भूमिका—जिसके आधार पर मन, वचन और काया तीनों दुष्प्रवृत्तियों मे सलग्न होते है तथा उन दुष्प्रवृत्तियों का दण्ड भुगते है। मूल में ये तीनो इसी आत्मा के अग होते है। अतः हकीकत में तो यह सारा दण्ड इसी आत्मा को इस या आगामी जन्मो मे भुगतना पड़ता है।

दण्ड की यह प्रक्रिया उभयमुखी होती है—दण्ड–निर्माण एव दण्ड भुगतान। मानसिक, वाचिक एव कायिक क्रियाये स्वय आत्मा के लिये दण्ड का निर्माण करती है और वही दण्ड का भुगतान करती है अर्थात् मन, वाणी और शरीर पर ही हमारे कर्मो का प्रभाव होता है। कर्म वन्धन एवं कर्म-फल भोग की अन्तर्दृष्टि से समझ लेना कर्म-समीक्षण अथवा दण्ड समीक्षण कहलाता है। इस रूप मे समीक्षण ध्यान साधना कर्म बन्धन से मुक्ति दिलाने की एक सुगमतम किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। दण्डों का समीक्षण और उनके परिणामों का समीक्षण हमे दण्डो से वचाने हेतु उत्प्रेरित करता है।

बन्ध और मोक्ष का कारण : मन

दार्शनिक भूमिका पर मन का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि—

मन एव मनुष्याणां, कारण बन्ध-मोक्षयो:।

मुख्यतया मन ही मनुष्यों के कर्मबन्ध एव कर्मक्षय का कारण होता है। इस मन की प्रवृत्ति से मनुष्य अपने जीवन को कर्मो से कुत्सित वनाता है। अपने लिये नये-नये कष्ट खडे करता है और अपने आपको वरवाद करता है। यह मन इतना वड़ा दण्ड है कि जिसकी समानता की कल्पना भी नही की जा सकती है। अपनी अशुभ प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में वह यह सोचता है कि वर्तमान मे मेरा कार्य ठीक चल रहा है और ऐसा कार्य हो रहा है जिससे मेरा कुछ नही विगड़ सकता। लेकिन वह भविष्य को नहीं देखता। वह यह भूल जाता है कि उसने अपनी करणी से अपना सव कुछ विगाड़ लिया है। पूर्व की पुण्यवानी का उदय होता है तव तक सारी खुशहाली दिखाई देती है, लेकिन जिस वक्त यह पुण्यवानी समाप्त हो जायेगी, तव मन, वचन और काया दण्ड रूप वनकर इस आत्मा को दुःखित बना देगे। उस दशा का ज्ञान यदि आज कर लिया जाय तो वह कष्ट-निरोधक वन सकता है। वरना जव कष्ट भुगतना पड़ेगा तव तो उसे समझ आयेगी ही। कहावत है—"प्रकृति मे देर है, लेकिन अन्धेर नही है।"

अपनी पाप प्रवृत्तियों से सरकार की निगाह से बचा जा सकता है लेकिन कुदरत की निगाह से नही बचा जा सकता। कर्मों की स्थिति बड़ी विचित्र होती है। कर्म अपनी विचित्र दशा से आत्मा को दण्डित करते रहते है। जिस क्षण भी विचार करें तो आपको यह प्रतीत होगा कि मन भिन्न-भिन्न विषयों में उलझता जाता है और शनैः-शनै. अशुभ कर्मो का बोझ आत्मा पर बढता जाता है। जहाँ तक मन के ये बाहर के ताने-बाने चलते रहते है, वहाँ तक जीवन के अन्तर्रहस्यों का समीक्षण कठिन ही बना रहता है। भीतरी जीवन को न पा सकना—यह आत्मा के लिये सबसे बड़ा दण्ड होता है। बाहर के दृश्यों में उलझे रहना—यह आत्मा का पागलपन माना जाता है। दुनिया की नजर मे कोई व्यक्ति बड़ा होशियार और योग्य हो सकता है। किन्तु उसका अगर भीतरी जीवन में प्रवेश नही है तो आत्मा की दृष्टि से वह पागल ही कहलायेगा। यह ज्ञानीजनों की दृष्टि है। शास्त्रकारों ने ऐसे व्यक्ति को वाल कहा है। शरीर की दृष्टि से वह बड़ा हो सकता है, लेकिन मनोवृत्ति की दृष्टि से वह नादान है। नादानी में व्यक्ति क्या नही करता है? वह अपने अमूल्य जीवन को निरर्थक बना लेता है। यही नादानी उसे संसार-चक्र में परि-भ्रमण कराती है।

मन जैसे कर्म-बन्धन में कारण भूत होता है, वैसे ही उसे कर्म-क्षय का कारण भी बनाया जा सकता है। कर्मो से छुटकारा दिलाने वाला भी यही मन होता है। अगर मन के संकल्पों को शुभता में ढाल लें और उसकी गतिविधि को समीक्षण की प्रक्रिया से व्यवस्थित वनालें तो वे मन की दिशा को बदल सकती है। आगमवाणी है—"मणो साहसिओभीमो··· ···" मन एक घोड़े के समान है। जैसे किसी घोडे की लगाम ढीली है तो वह रास्ते से भटक जाता है और सवार को ऊबड़-खावड़ मे गिरा देता है। किन्तु उसकी लगाम सवार के हाथ में हो तो वह बरावर रास्ते पर चलता रहेगा। तेज चाल से चलता रहेगा और गन्तव्य स्थान पर समय व सुविधा से पहुँचा देगा। उसी प्रकार मन रूपी घोड़े को अपने अधीन वनाकर चलने की वात वहुत वड़ी उपलब्धि होती है और वह होगी समीक्षण की प्रक्रिया से।

मन की गति को व्यवस्थित वनाने के लिये पहला काम यह करे कि वह गलत रास्ते पर या ऊवड़-खावड़ में चलना वन्द करे। पहले पहल वह सही रास्ते पर नही चल सके तो कोई वात नही। जव वह गलत मार्ग पर

गति करना छोड़ देगा, तो तब उसको सही मार्ग पर लाने मे कोई कठिनाई नही होगी। अशुभत्व के प्रतिबन्ध के साथ ही समीक्षण की प्रक्रिया शुभत्व की ओर ले जाने में सहायक बनेगी।

मन की विगति से मानसिक रोगों की उत्पत्ति

आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहते है कि मन की विगति से कई प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ये मानसिक रोग रोगी के स्वय के जीवन के लिये तो घातक सिद्ध होते ही है। किन्तु उनके संक्रामक असर से समाज और राष्ट्र भी नही बचते है। क्षय रोग की तरह ये रोग मन की शक्ति को और उसके साथ राष्ट्र को सस्कृति को भी क्षत-विक्षत वना देते है।

मानसिक रोगों का प्रभाव छूत के रोगों की तरह फैलता है। हिस्टीरिया एक मानसिक रोग होता है। किसी व्यक्ति को हिस्टीरिया की बीमारी हो और पास मे कोई दूसरा कमजोर मन का व्यक्ति बैठा हुआ हो तो वह भी उस रोग से ग्रस्त हो जाता है। इसकी खोज करने वालो ने तो यहाँ तक लिखा है कि एक वहिन हिस्टीरिया की वीमार थी—उसे दौरे पड़ रहे थे। उसका इलाज कराने के लिये रेल से दूसरे स्थान पर उसे ले जा रहे थे। सीट पर—उसके पास मे ही आदिवासी कन्या वैठी हुई थी। उस वहिन को दौरा पडा और उसकी दशा को देखकर उस आदिवासी कन्या को भी दौरा पड़ना शुरू हो गया। इस प्रकार मानसिक रोगो की दशा मे मन की ग्रन्थियाँ उलझ जाती है। जिन पर नियन्त्रण कर पाने मे मनुष्य अक्षम बन जाता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र मे अनुसंधान करने वाले लोगों ने कई विचित्र अनुसंधान किये है। अधिकतर मन की विचारणा और धारणा मन के रागों में ही नही, शरीर के रोगो मे भी मुख्य रूप से प्रभावशाली होती है। मन की विगति को समझ जावें तथा उसको रोक दे तो मन और शरीर को कई रोगों से मुक्त रखा जा सकता है।

मै अभी मन दण्ड की स्थिति का संक्षेप मे सकेत दे रहा हूँ। शास्त्रकारों के कथनानुसार मन को मन ही दण्ड देने वाला होता है। वस्तुतः इसको आत्मा के अधीन चलना चाहिये। तभी इसकी नियंत्रित अवस्था रहती है। मन की विगति का मुख्य कारण इसका आत्मा के ऊपर छा

जाना है । आत्मा जब इस मन की अधीनता में आ जाती है तो वह बेभान हो जाती है । उद्दण्ड मन के हाथो में पड़कर आत्मा अपने स्वरूप को विकृत बनाती है तथा इस लोक और परलोक को बिगाडती है मानसिक रोग जीवन की मूल शक्ति को नष्ट करने वाले होते है । यदि इनकी चिकित्सा समुचित रूप से नही की जाती है तो ये जीवन के लिये भयावह सिद्ध होते है ।

मनो निग्रह का उपाय समीक्षण ध्यान योग

मै यह कहना चाहता हूँ कि इन्सान अभी कुछ क्षणों के लिये परलोक की बात को गौण करदे । महावीर प्रभु की वाणी के आधार पर जीवन को समझना चाहे और यह सोचे कि वर्तमान जीवन को सुखी बनाना है । परम आनन्द का अनुभव करना है तो वह वीतराग वाणी का प्रयोग इसी जीवन मे करके देखे । कई लोग यह समझते है कि महाराज परलोक सम्बन्धी बात सुना रहे है, तो वे पूरा अर्थ नही समझते है । मै आपको जो कुछ सुना रहा हूँ वह परलोक की बात है या इस लोक की बात है ? परलोक की बात तो मेरे मस्तिष्क में है ही, किन्तु सही दृष्टि से सोचे तो वह परलोक इसी जीवन मे है । यदि आप वर्तमान जीवन को व्यवस्थित बना लेते है तो परलोक की श्रेष्ठता भी अर्जित कर लेते है । समीक्षण ध्यान साधना जिस सुघड़ता से वर्तमान जीवन को परिष्कृत करती है, वह परलोक को सहज ही मगलप्रद बना देती है । धर्म स्थान पर उपदेश और धार्मिक क्रियाओ का जितना भी वातावरण मिलता है, वह जीवन के अन्त:स्तल को छूने वाला वर्तमान, भूत और भविष्यत् की, समग्र स्थितियो का परिष्कृत करने वाला है, वर्तमान को भव्य बनाने का सूक्ष्म सत्प्रयास है । मै तो यहाँ तक कहने के लिये तैयार हूँ कि यदि आप वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मान लेना चाहते है तथा भविष्य को भूल जाते है तो यह संशोधन देता हूँ कि वर्तमान जीवन सब कुछ नही है । इससे आगे भी जीवन है । लेकिन उसकी नीव वर्तमान जीवन मे है । इसलिये वर्तमान जीवन पर आपकी पहली दृष्टि रहे—यह आवश्यक भी है और वान्छनीय भी । इस दृष्टि से भी आप समीक्षण ध्यान-साधना के द्वारा मनोविग्रह के उपाय कीजिये और उस मन की विगति को सुधारिये ।

'हसन' एक वड़ा आदमी हो गया है । वह अपने आपको खुदा का वन्दा समझता था और उसका ख्याल था कि खुदा उसके मन की सभी मुरादे पूरी करता है और उसको चाही गई जानकारी देता है । एक वार

उसने खुदा से यह जानकारी चाही कि इस दुनिया मे सबसे बड़ा पापी कौन है ? वह प्रार्थना करके सो गया तो उसको सपने में जवाब मिला कि उसके मकान के बाईं तरफ का पड़ौसी ही दुनिया का सबसे बडा पापी है। उसे वह जवाब समझ मे नही आया, क्योकि वह पडोसी तो बडा भोला और शरीफ था। फिर उसने दूसरी जानकारी चाही कि सबसे बडा धर्मात्मा कौन है ? उसका भी जवाब सपने में मिला कि दाई तरफ का चमार पडौसी सबसे बडा धर्मात्मा है। यह भी उसके समझ मे नही आया कि वह चमडे का काम करने वाला सबसे बडा धर्मात्मा कैसे हो सकता है। उसने दोनो जवाबों के लिये अपने असन्तोष की सफाई चाही तो फिर सपने मे उत्तर मिला कि दोनो जवाब सही है—यह तुम्हारे मन की अग्राहकता है कि तुम समझ नही पा रहे हो। मन की उलझन को मिटाओ तो सही बात सही रूप से समझ मे आयेगी।

इस रूपक का अभिप्राय यह है कि जो मानसिक उलझनो मे उलझ जाता है और मनोवृत्तियो का समीक्षण नही करता तो उन उलझनो में उसकी आत्म-प्रतीति मन्दी हो जाती है, वह अपने ही अन्तरंग में उठती आवाज को समझ नही पाता है। परमात्मा किसी जिज्ञासा का क्या उत्तर देगा—यह तो स्वयं की—भीतर की आवाज होती है। यह आवाज उतनी ही सच्ची होगी जितनी आत्मा निर्मल और सक्षम होगी। आत्मा की निर्मलता और सक्षमता मनोनिग्रह की श्रेष्ठता पर आधारित होती है।

भीतर से जो उत्तर मिलता है, वह अन्तरात्मा का उत्तर होता है। परमात्मा कही बाहर नही है। वह आपके अपने ही भीतर है। उसको आपने दबा रखा है। उसके ऊपर आपने आवरण डाल दिये है। फिर भी वह पूरी तरह दबता नही है, छिपता नही है और समय-समय पर आपको अपना आभास देता रहता है। यदि आप तल्लीनता से दृढ संकल्प पूर्वक समीक्षण प्रक्रिया के माध्यम से अपने अन्त.करण को कुछ पूछे तो उसका सही उत्तर आपको मिलेगा। लेकिन इतनी गहराई मे कौन उतरे ? जो बाहर ही बाहर भटकते है, उन्हे भीतर प्रवेश का अवकाश कहाँ ? भीतर की गहराई मे उतरे तो आत्म-प्रतीति गहरी बन सकती है। इसके लिये वर्तमान जीवन पर प्रथम दृष्टि रखकर चले तो कोई आपत्ति नही है।

मन दण्ड का व्यापक प्रभाव

मन का दण्ड समग्र जीवन पर व्यापक प्रभाव डालता है। जब मन

व्यवस्थित नही होता है तो मनुष्य अपने विचारों में बड़ी परेशानी महसूस करता है। जब हर समय मानसिक तनाव की स्थिति रहती है तो वह अपने वचन के नियंत्रण को भी खो देता है। वह ऊलजलूल बोलता है तो उसका तनाव बढ़ता जाता तब उस परेशानी में वह नशा लेने लगता है और शराब, भग, गांजे आदि के नशों से वह वचन दण्ड से काया दण्ड पर उतरता है और अपने शरीर का नाश करता है। इस तरह मन का दण्ड समूचे जीवन का दण्ड हो जाता है। जो आत्मा के लिए कष्ट दायक बनता है।

गाँधी जी के उपदेशों के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि नशाबन्दी होनी चाहिये। अब इस दिशा में सरकार काफी आगे बढ़ने की बात सोच रही है। लेकिन आज नशे की वृद्धि भी जीवन के साथ जुड गई है। गाँधी जी ने विदेश जाते समय जैन सन्तों के सम्पर्क से मांस नहीं खाने, मदिरा नही पीने और परस्त्री के सम्पर्क में नही जाने की तीन प्रतिज्ञाये ली थीं। किसी भी प्रतिज्ञा का पालन तभी हो सकता है जब उसके योग्य मन की तैयारी वन जाती है। सरकार कानून बनाकर नशाबन्दी कर सकती है। लेकिन कानून से मन की तैयारी तो नही करा सकती है। इसके लिये तो लोगों के मन को ही सुधारना और तैयार करना पड़ेगा और तभी वचन दण्ड और काय दण्ड से बचा जा सकता है।

जीवन का परिवर्तन बाहर से नहीं लादा जा सकता है—उसको तो समीक्षण की गम्भीर साधना से भीतर से ही पैदा करना पडेगा। यदि हकीकत में नशाबन्दी करनी है तो जन-जन के समीप जाकर उनकी मनः-स्थिति को परिमार्जित करना होगा, उन्हें वर्तमान जीवन के वास्तविक सुख का ज्ञान देना होगा। यदि उनको मन से अनुभव करा देगे कि नशा अहितकर है, तो वे नशे को बिना कानून के भी छोड़ देंगे। मैं यह कहना चाहता हूँ कि कि नशाबन्दी के आन्दोलनकर्ताओं को पहले मानसिक परिवर्तन का आन्दोलन चलाना चाहिये। यदि लोगों को इस मन के दण्ड से वचा लेते हैं तो उनको उसके व्यापक कुप्रभाव से भी वचा लिया जा सकेगा। यह सव समीक्षण ध्यान साधना के रचनात्मक व्यापक प्रचार-प्रसार एवं अनुशीलन के द्वारा सहज साध्य हो सकता है।

मन की उलझनें मिटाइये, समीक्षण में रम जाइये

सारे रोगों की जड़ मन है, और यदि मन की सारी उलझने आप

मिटा देते है तो जीवन की उन्नति का मार्ग साफ हो जाता है। मन की उलझने मिटेगी तो नया पाप कम होगा तथा पुराने पापो को धोने का प्रसंग आयेगा। इस कार्य में सन्तो का समागम एवं समीक्षण का आयाम बहुत लाभदायक होगा। आप सन्तों को अपनी उलझने बतावे तो वे आपको उन्हे मिटाने के कारगर उपाय स्वय की मर्यादा मे बतायेगे। वे आपको तीनों प्रकार की दण्ड स्थिति समझायेगे और आपको अपने ही दण्ड से बचायेगे। सभी वर्गो तथा स्तरो के व्यक्ति एवं साधक सन्तो से दिशा-निर्देश प्राप्त कर सकते है। समीक्षण ध्यान साधना कर सकते हैं।

धर्म स्थान पर किसी भी प्रकार की पूर्वाग्रह की जडता से आबद्ध होकर नही आवे। मन के ताला लगाकर नही आवे और यदि आप ऐसा करते है तो मै सोचता हूँ कि आप अपने मन की उलझने मिटाकर स्वस्थ चिन्तन की प्रवृत्ति डाल सकते है। कोई यह सोचे कि महाराज मन के अनुकूल बोले वह सही और प्रतिकूल बोले वह गलत, तो ऐसे मन के गुलाम को तो भगवान् भी नही समझा सकते है। अगर आप अपने जीवन को समुन्नत बनाना चाहते है तो मन के गुलाम नही, मन के स्वामी बनिये और उसको अपनी आत्मा की अधीनता में चलाइये। समीक्षण ध्यान को जीवन मे आन्तरिकता पूर्वक अपनाइये।

मन की गति को स्वस्थ बनाकर मन के दण्ड से अपने आपको बचा लेते है तो समझिये कि आप अपनी आत्मा को सशक्त बना लेगे। आत्मा के साथ मन, वचन और काया तीनो शक्तिशाली हो जायेगे। मानवीय जीवन की इस गहनता को समझने का सक्रिय साधन समीक्षण आपके सम्पूर्ण जीवन को आनन्द से भर देगा।



६ ज्ञान का ज्ञान : आत्म-समीक्षण

वर्तमान शासन नायक प्रभु महावीर ने जो अमृत सन्देश दिया वह जन-जन के जीवन को आनन्द से भरने वाला है, जन-जन के मन को आह्लादित करने वाला है। यदि जन-समुदाय इस सन्देश को हृदयगम करले, जीवन के आचरण के साथ जोड़ दे, जीवन के अणु-अणु में उतार दे तो आज इस मानव तन मे रहता हुआ भी वह कुछ विलक्षण, अलौकिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अपने तनाव पूर्ण जीवन को शान्ति रस से भर सकता है।

प्रभु ने एकान्त एवं स्थायी सुख पाने के लिए पहला उपाय ज्ञान की अभिव्यक्ति से अधिक ज्ञान के समीक्षण के रूप में बताया है। अर्थात् स्वयं द्वारा स्वयं के समीक्षण पर ही प्रभु ने सर्वाधिकार वल दिया है।

ज्ञान का समीक्षण

आप सोचेंगे कि अन्य वस्तुओं को स्वयं ज्ञान से जाना जाता है किन्तु ज्ञान को किससे जाना जाय ? यह समझने का विषय है—जव तक प्रभु के सिद्धान्तों का ज्ञान हृदयंगम नही हो पायेगा।

जिन माध्यमो से अथवा जिन तौर तरीको से अन्य पदार्थो का ज्ञान किया जाता है उनके अतिरिक्त एक माध्यम इतना विशिष्ट है जिससे ज्ञान का ज्ञान भी किया जा सकता है। ज्ञान विपयी होता है। अन्य पदार्थ विषय होते हैं। पर जिस समय ज्ञान को विपय वनाया जाय और विपयी वह विशिष्ट ज्ञान हो उस वक्त की घड़ियाँ, उस समय का स्वरूप कुछ अलग ही होता है। वह जीवन-वेला कितनी शान्त, प्रशान्त वन सकती है, इसका कथन शव्दों से नही किया जा सकता। वह तो अनुभूति का ही विपय है।

देखने की प्यास

मानव अपने चारों ओर निगाह डाल कर अपने सदृश तत्त्व को देखने की कोशिश करता है । मनुष्य जहाँ भी पहुँचता है वहाँ उसकी देखने की लालसा रहती है, उसमे देखने की स्वाभाविक भूख है । वह नित नूतन तत्त्व के लिए तड़पता है। किन्तु वह देखने मे कभी तृप्ति का अनुभव नही करता । कितना ही कुछ देख लिया जाय, इन्सान को सतुष्टि नही आती, क्योकि उसका वह देखना समीक्षण पूर्वक नही होता है ।

व्यक्ति बम्बई जैसी महानगरी में पहुँच जाय और इस महानगरी के चप्पे-चप्पे को देख ले—इतना देखने पर भी क्या उसे संतुष्टि होती है ? इतना ही नही, सारे ससार को देख लिया जाय, लेकिन मनुष्य के दिल में सतुष्टि या सन्तोष नही होगा । इसका भी कोई कारण होना चाहिए ।

वस्तुत· देखने की प्यास तीव्र है । जैसे किसी को पानी पीने की लालसा है । पानी सरीखा तत्त्व दिखाई दे जाता है और वह पीया भी जाता है लेकिन प्यास नही बुझती । वह तरल पदार्थ कितना ही कुछ पीया जाय, प्यास शान्त नही होती तो प्यासे व्यक्ति को चिन्तन करना पडता है कि इतना सारा द्रव-पदार्थ, जिसको पानी कहा जाता है, मैं पी गया, लेकिन मेरी प्यास शान्त क्यो नही हुई ? वह अनुसधान करे तो उसकी चितन-धारा उभरेगी कि मैने पानी के नाम से जो पीया है वह या तो पानी नही है—पानी होता तो प्यास अवश्य बुझती या मैंने पीने की कला नही सीखी है, पानी कैसे पीना चाहिए, यह नहीं जाना । इन दोनो मे से कही न कही कुछ नुक्स है । इसीलिए इतना सारा पानी पीने पर भी प्यास नही बुझी । यदि वह सच्चा जिज्ञासु-पिपासु है तो खोज अवश्य करेगा । पानी वास्तविक पानी है तो पीने की विधि सही नही है । इसीलिए प्यास बुझाने में मुझे सफलता नही मिलती है । वैसे ही मानव को देखने की, पानी की तरह तीव्र जिज्ञासा वनी हुई है, इतनी तीव्रता है कि कोई प्रगाढ निद्रा मे सोया हुआ है और उससे कोई कहे कि देखो बाहर कोई जुलूस आया है, चला जायेगा, जल्दी उठो तो वह प्रगाढ निद्रा से उठकर देखने की चेष्टा करेगा, लेकिन वह सोच नहीं पाता कि मै देख क्या रहा हूँ ?

देखने की प्यास सच्ची है लेकिन जिसको देखना चाहिये उसको वह देख नही पा रहा है । जो दिखाई दे रहा है वह देखने की प्यास को शान्त करने वाला नही है । जो दृश्य देख रहा है वह या तो देखने की शक्ति को देख नही पा रहा है, या फिर उसके पास अन्दर देखने की विधि नही है । इन्सान अपने कर्म के पर्दे के भीतर देखना नही चाहता । वह यह नहीं सोचता कि मेरे शरीर के पर्दे के पीछे क्या है ? मेरी देखने की प्रक्रिया क्या बन रही है ? नेत्र देखने के लिए लोलुप हैं । कान सुनने के अभिलाषी है, नासिका गन्ध सूंघने को तत्पर है और जिह्वा रस चखने को उतावली हो रही है । स्पर्श इन्द्रिय अच्छे स्पर्श के लिए तृष्णावान् है । किन्तु इन्द्रियों की यह होड़ बहिर्गामी है । वह मौलिक दर्शन से भटकाने वाली है । क्योंकि इन्द्रियाँ स्वय मे जड़ है—जड़ाभिमुख है । आँखे देखने का स्वरूप नही जानती, कान सुनने की कला नही जानते । नासिका सूघने के स्वरूप को नही समझती । जिह्वा चखने की कार्य पद्धति का विज्ञान नही रखती और त्वचा स्पर्श का स्वरूप समझ नही पाती । समझने वाला इनसे भिन्न कोई और ही है । ये जरिये या साधन है । इनके माध्यम से देखने और श्रवण करने की लालसा रखने वाला भीतर वैठा आत्म-तत्त्व है ।

जड़ का नहीं, चेतन का समीक्षरण

हमें यह समीक्षरण करना है कि शरीर जिसके निर्देशन में चल रहा है, जिसके इशारे पर चल रहा है, वह खिलाड़ी कौन है और उस खिलाड़ी के समीप रहने वाला तत्त्व क्या है ? इस तत्त्व की ओर ध्यान नही देने से मनुष्य की सारी प्रक्रियायें यन्त्रवत् होती रहती है और वह अतृप्त का अतृप्त बना रहता है । उसकी दौड़ थी तृप्ति के लिए, लेकिन उसे वह तृप्ति मिलती नही ।

आज के आम व्यक्ति की यह दशा वनी हुई है । इस दशा को ठीक करने के लिए अथवा जिस उद्देश्य से आए है उसकी उपलब्धि के लिए यह वर्तमान तन है । इसका सम्यक् समीक्षरण-निरीक्षरण ही हमे जड़ाभिमुखता से वचा सकता है ।

मनुष्य जीवन और पशु जगत के जीवन को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि पशु अपनी वृत्ति से चलता है, किन्तु

उसमे इतना अनुसंधान का भाव पैदा नही होता जितना कि मनुष्य में। अतएव मनुष्य पशु से विशेष साधन व माध्यम सम्पन्न माना जाता है। किन्तु वह माध्यम और साधन क्या है, उसका उपयोग क्या है, इसका विज्ञान, अनुसंधान-समीक्षण करने के लिए समय नही निकालता, उसको इसके लिए फुर्सत नही है। देखने के लिए वह चौबीसो घण्टे लगा रहता है, किन्तु देखने वाले को देखने के लिए एक घण्टा भी नही लगता है। यह कितना बडा आश्चर्य है ? सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधित्व लेकर चलने वाला इन्सान आज क्या कर रहा है, क्या सोच रहा है, कितनी कल्पना की उड़ाने भर रहा है, किन्तु वह स्वय कल्पना के जाल में इतना उलझ गया है कि उसको मार्ग ही नही मिल रहा है। वह इस मार्ग का अनुसधान वैज्ञानिक पद्धति से, समीक्षण दृष्टि से नही कर पाता है। इस अनुसधान के लिए जरा ठण्डे दिल से चितन करने, तटस्थ भाव से सोचने और समता के धरातल पर उतरकर खोजने की आवश्यकता है। आकाश मे उडने की, पाताल में जाने की या जमीन पर दौड लगाने की आवश्यकता नही है। इसके लिए शरीर के भीतर अवस्थित चेतन केन्द्र को भीतर से जानने की, समीक्षण करने की आवश्यकता है। उसके भीतर जाने के लिए ऐसा समय निर्धारित होना चाहिए, जिसमे बाहर के दृश्य, जिनको बहुत समय से देखते आए है, सामने नही आवे। हम चेतन केन्द्रों के भीतर प्रवेश कर जावे उसके लिए प्रभु ने जो सकेत दिया है वह है समीक्षण ध्यान साधना मार्ग, सामायिक साधना मार्ग। यह मार्ग कितना भव्य है, कितना अनुभूति मूलक ज्ञान कराने वाला है ? यदि इसका ज्ञान कर लेंगे तो साधना फलीभूत हो जायेगी।

सामायिक बनाम समीक्षण

सामायिक की शुद्ध साधना के लिए सामायिक का नियमित प्रोग्राम बनाइये। ४८ मिनट के कार्यक्रम मे अपने भीतर झांक कर देखिए, अपना समीक्षण करिए—ज्ञान का ज्ञान कराने वाला तत्त्व कहाँ है—इसी तत्त्व को खोज के लिए कम्प्यूटर का निर्माण किया गया है। शरीर विज्ञान के लिए भी साधन उपलब्ध है। लेकिन आत्म-ज्ञान की खोज करने के लिए चरण नही उठाए गए है। वह चरण वीतराग की वाणी में मिल रहे है। प्रभु ने सकेत दिया :—"नाणस्य सव्वस्य पगासणाए"

ज्ञान को प्रकट करने वाले वीतराग देव ने यह नही कहा कि आप किसी प्रकार का बाह्य प्रदर्शन करें। ज्ञान को प्रकट करने के लिए यह सामायिक साधना है। यदि यावत् जीवन की सामायिक साधना बनती है तो बहुत सुन्दर। यदि वह नही बनती है तो एक घण्टे भर की साधना इस विधि से बने कि उसमें आप अपने आप को देखें, अपना समीक्षण करे, तो आपको ज्ञात होगा कि आप अनन्त शक्ति स्रोत है। आप में सभी शक्तियाँ स्वाधीन रूप से रही हुई है। आप किसी के अनुचर नही है। आप अपने आप के स्वामी है, किसी के गुलाम नही हैं।

कुछ वर्षो पहले लोग सोचते थे कि हिन्दुस्तान गुलाम है, पराधीन है। अब सोचते है कि हम स्वाधीन है। यदि आप स्वाधीन है तो अपने आप को देखें कि आप स्वाधीन किस रूप मे है? आप किसी के स्वामी है या गुलाम है, इसके लिए मै प्रश्न वाचक चिह्न उपस्थित कर रहा हूँ। आप अपने आप के मालिक है, गुलामी छोड़ें—अपनी शक्ति पर विश्वास करे और गुलामी पर नियंत्रण करे। इस पर नियत्रण तब होगा जबकि आप बाहरी ज्ञान को प्राप्त करने वाले माध्यमों पर नियंत्रण कर लेगे। वह नियंत्रण तब होगा जबकि ज्ञान का ज्ञान करना शुरू कर देगे। आत्म-समीक्षण अथवा अन्तः शक्तियों का निरीक्षण प्रारम्भ कर देगे। इस रूप में सामायिक साधना आत्म-स्वातन्त्र्य की साधना बन जाएगी। यद्यपि आज का विषय कुछ सूक्ष्म हो रहा है, फिर भी मै समझता हूँ कि आपकी बुद्धि इतनी कमजोर नही होगी कि भार महसूस करने लग जाय। मै जहाँ तक चितन करता हूँ, आज के युग मे मनुष्य की मानसिक क्षमता सूक्ष्म विषय को झेलने की अवश्य बनी है, लेकिन वे इस विषय को जानने की कोशिश नहीं कर रहे है।

कवि आनन्दघनजी इस विषय में भगवान के चरणों मे निवेदन कर रहे है कि भगवन्! मै याचना नही कर रहा हूँ, मांगनी नही कर रहा हूँ—एक ही बात कह रहा हूँ कि इस मन का परीक्षण कैसे करूँ :

"शान्ति स्वरूप केम जाणिये, कहो मन केम परखाय रे....।
शान्ति जिन एक मुझ विनति।"

साधक अपनी साधना मे अनुसंधान के मार्ग पर चलते है। किन्तु वर्षो तक साधना करने पर भी जब उसका साध्य ज्ञात नही होता है

तब वे भगवान के चरणों मे निवेदन करते है कि इस स्वरूप को कैसे जानूं—मन का कैसे परीक्षण करूँ । वर्षों तक साधना करने वाले के मन में जिज्ञासा पैदा हो जाती है तो एक घण्टे की साधना करने वाले के मन में जिज्ञासा है या नही ? आप अपनी जिज्ञासा को आत्माभिमुखी बनावे ।

मन-अश्व का समीक्षण

शरीर पिण्ड को देखने के प्रयास के साथ मन का भी समीक्षण करल कि यह मन हमको गुलाम बनाकर चल रहा है या हम उसको गुलाम बना रहे है । मन राजा है या आत्मा राजा है । हम मन के अधीन है या मन हमारे अधीन है । हमने मन को जीत लिया है या मन ने हम को जीत लिया, इतना ही निर्णय करना है । यह निर्णय पुस्तको को पढ़ने से नही होगा । विश्व के ना कुछ तत्त्वो को देखने से नही होगा । वह निर्णय भौतिक विज्ञान के समग्र रूप को ग्रहण करने से नही होगा । वह निर्णय तब होगा जबकि ज्ञान के माध्यम से जानने वाले का समीक्षण कर लिया जाएगा ।

आज आपको मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान है । पाँच इन्द्रियों और मन से होने वाला ज्ञान मति-ज्ञान है । जब इसमे इतनी परिपक्वता हो कि दूसरो को समझा सके तब वही मतिज्ञान श्रुतज्ञान की संज्ञा पाता है । मति और श्रुत ज्ञान पाँच इन्द्रियो और मन के माध्यम से होते है । इन इन्द्रियों और मन के विषय को सम्यक् रूप से देखने की कोशिश करें । ज्ञान आपके भीतर से होता है । परन्तु याद रखे कि ज्ञाता का ज्ञान किए बिना आत्म-समीक्षण नही होगा । आप शरीर को साधना मे बैठा दे, मन को मोड दें । मन को बदलें या कुछ भी करें, लेकिन इस ज्ञान का बोध हुए बिना मन आपकी बात नही मानेगा । आपको गुलाम बनाकर चलेगा, आपको धक्का देकर चलेगा । इसके बारे में प्रभु ने बारीकी से सकेत दिया है ।

असली घुड़सवार

एक सम्राट् के पास एक जंगली व्यक्ति सात घोड़े लेकर आया । घोड़े अच्छे थे, हृष्टपुष्ट थे । सम्राट् ने कहा कि सुन्दर घोड़े है, इनको खरीद लिया जाय । घोड़ो को खरीद लिया गया और निश्चित स्थान

पर बाँध दिया गया । उनको दाना खिलाने और पानी पिलाने की व्यवस्था कर दी गयी । हजारों रुपए उन पर खर्च कर दिए गए । लेकिन जिस वक्त सम्राट् के सवारी करने का प्रसंग आया तो एक घोड़े को लाया गया । लाने वाला स्वयं तंग आ गया । घोड़े ने दो-चार लातें उसके मार दी । दीवान ने कहा कि हुजूर यह घोड़ा आपसे सॅभलेगा नही । इसको जो व्यक्ति पकड़ कर लाया है उसी को सोंप दिया जाय । सम्राट् ने कहा कि इसको बाँध दो और दूसरा घोड़ा लाओ । एक के बाद एक करके सातों घोड़े लाए गए लेकिन एक भी बैठने लायक नही बना ।

तब सम्राट् ने कहा कि दीवानजी, घोडे अच्छे और सुन्दर दिख रहे है लेकिन ये बैठने लायक कैसे बने, इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए । दीवानजी ने कहा कि कुछ इनाम घोषित करिए । इनाम साधारण नही हो, विशेष हो । जो इन घोड़ो को बैठने लायक बना देगा उसको सेनापति या सेनाध्यक्ष बना दिया जाएगा । जिसकी इच्छा हो वह प्रयत्न करे ।

इस घोषणा को सुनकर बहुत उम्मीदवार खड़े हो गए । उनमें से छँटनी करके सात आदमियों को कुछ योग्य समझा गया । सातों को एक-एक घोड़ा सभला दिया गया कि प्रतिस्पर्धा की भावना से इनको दौड़ाइए और सौ कोस की दूरी पार करने के बाद तीन रोज मे वापिस आ जाना चाहिए । जो इस प्रकार का कार्य कर सकेगा उसको यह पद दिया जाएगा, अन्य को नही ।

सातों व्यक्ति एक-एक घोड़ा लेकर चले । पद का लोभ था । मनुष्य को सस्ती पदवियाँ अच्छी लगती है । अहंकार की पूर्ति जिस पदवी से होती है, वह पदवी अभीष्ट होती है, चाहे उसके पीछे कितना ही कष्ट उठाना पडे ।

वे सातों सवार एक-एक घोड़ा लेकर आगे वढ़े । जैसे ही जंगल का रास्ता आया, घोड़े भगे । ऊपर बैठने वाला लगाम खीचता है, एड़ी दवाने की चेष्टा करता है लेकिन घोड़ों पर कुछ भी असर नही हुआ । ऊपर बैठने वाले लुढक गए । कई घिसटते हुए चले गए । लहूलुहान हो गए । तीसरे रोज एक व्यक्ति आया, घोड़े पर लटकता हुआ । दीवान के पास आकर कहा कि मेरी यह दशा हुई है । मै घोड़े पर नियंत्रण

नही कर सका । उसके बाद पाँच व्यक्ति और आ गए । उनकी भी पहले वाले जैसी ही दशा बनी हुई थी ।

दीवान सोचने लगा कि ६ व्यक्ति तो आ गए, परन्तु सातवॉ क्यो नही आया । आज तीसरा दिन पूरा हो रहा है । सध्या होते-होते सातवॉ व्यक्ति भी आ गया । सब ने देखा कि वह मस्ती के साथ प्रसन्नचित्त होकर घोडे पर बैठा है । लगाम ढीली छोड़ रखी है । उधर चलो, इधर चलो यह भी कहने की आवश्यकता महसूस नही हो रही है ।

वह सम्राट् के सामने उपस्थित हुआ । सम्राट् कहने लगा कि ६ व्यक्तियो की दुर्दशा देखकर मै हैरान हो गया । तुमने इस घोडे को कौनसी दवा पिलाई, कैसे वश मे किया, कितने चाबुक लगाए । लगाम कैसे पकडी, इसके कान मे कौनसी फूक मारी, जिससे इसने बोध पाया और तुम्हारे अधीन हो गया ? उसने कहा कि मैंने एक भी चाबुक इसके नही लगाया, न लगाम या रस्सी बॉधी । मैंने कुछ भी इसके साथ बुरा बर्ताव नही किया । सिर्फ इसके स्वरूप को समझा और इसके साथ चलता रहा । इसके साथ मित्रता की और इसने समर्पण कर दिया व मेरे अधीन हो गया ।

उसने कहा कि मालिक, यह जगल मे रहने वाला घोडा था । जगल मे स्वच्छद विचरण के कारण किसी की अधीनता स्वीकार करने मे असमर्थ रहा है और तो और मक्खी और मच्छर भी इस पर दो सैकेण्ड भी नही बैठ सकते । बैठने की चेष्टा करते कि यह घोड़ा अपने शरीर को इस प्रकार खुजाता है कि जिससे उनके पैर भी नही जम पाये । पूछ के बाल इसके शरीर पर इधर-उधर घूमते रहते है । इसे खूटे से बॉधना इसकी रुचि के प्रतिकूल है । जबरन इसको बॉध भी दिया तो यह रस्सी को तोडने की चेष्टा करेगा । यदि इसे सॉकल से बॉधेगे तो यह सॉकल को तोडने में तो समर्थ नही होगा किन्तु मन ही मन छटपटाता रहेगा । अपने स्वभाव का परिवर्तन नही कर पाएगा । इसके लगाम लगाकर इस पर बैठने की कोशिश की जाएगी तो यह घोड़ा इस प्रकार उछाला खाएगा, छलॉगे लगाएगा और अपने सवार को गिरा देगा । जीन के साथ सवार ने अपने शरीर को बॉध भी लिया तो भी जीन नीचे लटक जाएगा तब सवार या तो जमीन पर गिर पडेगा या घसीटाएगा इत्यादि

दृष्टि से मैने इसके स्वभाव को परखा और यह भी जाना कि इसको सर्वथा छुट्टा रखा जाए तो जगल में भाग जाएगा। वैसी स्थिति में इसको सुधारना तो दूर, मै पकड़ भी नही पाऊँगा। अतएव मैने सिर्फ इसके गले में लम्बी रस्सी का मु ह बाँधा और रस्सी के दूसरे मुंह को पकड़ लिया घोड़े को छुट्टा छोड दिया। यह अपने जगली स्वभाव के कारण दौडने लगा, छलाँगें मारने लगा। जितनी लम्वी रस्सी थी उतनी ही सीमा तक दौडा पर रस्सी का दूसरा मुंह मेरे हाथ मे होने से वह लम्वी दौड नही दौड सका। इसी घेरे के अन्तर्गत इसकी दौड चलती रही। जव यह रुकने लगा तो मैने दूर से चाबुक दिखाया फिर भगा, ऐसे रस्सी को कुछ समेटता रहा, नजदीक होने पर शब्दो का प्रयोग करने लगा। जब यह शब्द के इशारे से दौड़ने लगा तो फिर सिर्फ शब्दो के सहारे उसको शिक्षित करता रहा, अंततोगत्वा शब्द से मेरे समीप आ गया तो मैने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए सहलाया और इस पर मै सवार भी हो गया। बाहरी रस्सी और लगाम के बिना स्नेहमय शब्दो से अपने वश में कर लिया। मै इस पर सवार हो करके यहाँ आ गया अब इसको मानव की तरह आज्ञाकारी अनुचर बना दिया।

सम्राट् ने तुष्ट होकर उसको पारितोषिक दिया। यह तो रूपक है। मन रूपी घोड़ा ससार रूपी अटवी में अनादि काल से भटक रहा है। इसके ऊपर यदि सवार होना है तो अन्य हठयोगिक प्रयोगों को छोड़कर सहज योग के प्रयोग के साथ इस मन रूपी घोडे को शिक्षित करने की आवश्यकता है। सम्यक् श्रुत का दूसरा छोर हाथ में रख कर धीरे-धीरे असद् विपयों से निवृत्त कर सद् विचारो मे प्रवृत्त कराना चाहिए। फिर उसे समभाव पूर्वक साधते हुए आज्ञाकारी घोडे की तरह सहचर बना लेना चाहिए। यह कार्य समीक्षण दृष्टि पूर्वक श्रुत के आधार पर सम्यक् आचरण के साथ सम्पन्न किया जा सकता है। इस अभ्यास के लिए सबसे पहले सामायिक साधना के अंतर्गत विविध आयामों के साथ शिक्षित करने का प्रसंग रहता है।

अपना घोड़ा

सम्राट् की जिज्ञासा बढ़ रही है। मै भी आपसे पूछ लू कि आपके पास भी कोई ऐसा घोड़ा आ जाय तो आप उस घोड़े पर बैठ सकेंगे

या नही ? यदि आप उस घोडे पर बैठ जायेगे तो आपको बहुत बड़ा पद मिल जाये, सारे विश्व को शान्ति मिल जाये। वह घोडा बाहर का नही है। प्रत्येक व्यक्ति के पास एक-एक घोडा है। सब उस घोडे पर बैठे है। किस के पास घोडा नही है। आज दुनिया मे अरबो की जनसख्या है। प्रत्येक व्यक्ति के पास घोडा है। हाथ मे लगाम है, फिर भी घिसटते जा रहे है। मन का घोड़ा वश मे नही है तो लहूलुहान नही होगे क्या! जरा चिंतन करे। आप कितने पराधीन बने है, मन के कितने गुलाम है। मन रूपी घोडे को कहाँ बाँधेगे। इस मन रूपी घोडे पर जब तक आपका नियत्रण नही होगा तब तक आप इस ससार में स्वतन्त्र नही होगे, विजयी नही होगे।

आपने अब तक किस पर विजय प्राप्त की ? क्या परतत्र व्यक्ति विजयी माना जा सकता है। रावण के मन पर किसने विजय पाई। आज अधिकाश व्यक्ति कही मन के घोडे के साथ घिसटते तो नही जा रहे है ? क्या आप इस स्थिति को सुधार नही सकते ?

साधना की दृष्टि से आज सारे ससार में अलग-अलग पद्धतियाँ चल रही है। किसी पद्धति वाले कहते है कि मन को जकड़ो, कोई कहता है मन को मार दो, लेकिन क्या कोई मन को बाँध सकता है, मार सकता है या रोक सकता है ? मैने सम्पर्क साधा और आज मै इसका स्वामी बन गया।

आज भाई-बहिन साधना करने बैठते है तो सबसे पहले यह शिकायत करते है कि महाराज मन वश मे नही है, कैसे साधना करे। सामायिक मे बैठते है तो मन इधर-उधर भागता है, कैसे सामायिक करे। किन्तु मन को समीक्षण ध्यान साधना के द्वारा नियत्रित किया जा सकता है। यदि साधना मे बैठने वालो को अपने मन पर अंकुश रखना है तो उसे छुटपल्ले नही रखना है। साधना मे बैठने के बाद आप मन को पकड़ने की कोशिश करेगे तो उसे पकड नही पायेगे, किन्तु साधना की विधि से उसका निग्रह करिए, उसके गुलाम मत बनिए, स्वामी बनिए। उसके साथ मित्रता करेगे तो मन रूपी वह घोडा आपके वश में आ जाएगा। आप मन के घोड़े पर सवार हो जायेगे तो उसके स्वरूप को समझ सकेगे। मन नियंत्रित हुआ कि सामायिक साधना रसप्रद बन जाएगी। किन्तु मन-नियत्रण के लिए समीक्षण ध्यान का अवलम्बन

आवश्यक है। आप समीक्षण साधना में मन की वृत्तियों के द्रष्टा बनें। उसे जबरन नही, द्रष्टा भाव से रोकें, उसके समक्ष साधना के विविध आयाम प्रस्तुत करे। एक अंग्रेजी कहावत है—"एम्पटी माइण्ड इज डेविल्स वर्क शॉप।" अर्थात् "खाली दिमाग शैतान का कारखाना है।" यदि आपने मन के सामने साधना के प्रयोग प्रस्तुत कर दिए तो उसका भटकाव स्वत: रुक जाएगा और वह मन का घोड़ा आपके नियन्त्रण मे आ जाएगा।

सामायिक साधना वर्षो से की जा रही है, पौषध उपवास भी चल रहे है, किन्तु साधना कैसी होनी चाहिए। भगवान ने इसका क्या रहस्य बताया है, उस रहस्य को पकडे वगैर अनेक तौर-तरीके अपना लें, जब तक आप अपने अन्दर रहने वाले मन रूपी घोड़े को साध नही लेगे तब तक मन कावू मे नही रहेगा और आप उस पर नही बैठ सकेंगे, उसको अपने अधीन नही कर सकेगे।

वन्धुओ! यह साधना की कुछ सूक्ष्म चर्चा है, आपके मस्तिष्क में भारी प्रतीत हो रही होगी, किन्तु इस भार से डरे नही। आपको वहुत दिन हो गए है रावड़ी खाते-खाते। अर्थात् स्थूल चर्चा करते-करते, वीच में एक आध रोज पकवान आता है तो पच नही पाता है। मै आपको आपके मन के विपरीत परोसता हूँ। क्योकि मै आपकी रुचि के अनुसार कार्य करता रहूँगा तो अपने कर्तव्य का पालन नही करूँगा। आपकी रुचि उन विषयो में है जो सुन्दर कहानी के रूप मे हो और इस रूप में रुचि एकाकी वन जाती है। तत्त्व की वातो मे रुचि मद पड़ जाती है। फिर आप यह नही सोच पाते कि मन हमारे हाथ मे क्यो नही आ रहा है। हमने उसकी कला नही जानी। एक छोटा सा रूपक दे दूं:

मन एक पंखा

एक आदिवासी ने कभी शहर नही देखा था, लेकिन शहर के विपय मे बहुत कुछ सुना था। शहर मे वड़े-बड़े व्यक्ति रहते है। वड़ी-बड़ी हवेलियाँ होती है। वहाँ वड़े धनवान व्यक्ति होते है। उनका जीवन सुखी होता है। उसने सोचा कि मै भी शहर मे जाकर कही मजदूरी करलूं। वह शहर मे गया। बम्बई जैसे फ्लैट देख ले तो सिर

घर से उसकी पगड़ी गिर जाय, इतने ऊँचे-ऊँचे होते है। एक बडा मकान देखा तो सोचा कि इतना बड़ा मकान कोई देवता बनाते होगे। वह खडा-खड़ा आश्चर्य कर रहा था इतने में घर का मालिक बाहर निकला—उसने अजनवी को देखा। सेठ को एक नौकर की आवश्यकता थी। क्योकि वह व्यापार के लिए दुकान पर चला जाता तो पीछे वृद्ध पिता घर मे अकेले रहते, उनको लकवा मार गया था। पीछे उनकी सेवा करने वाला कोई नही था। उनकी सेवा करने के लिए किसी व्यक्ति को नियुक्त करना था। सेठ ने सोचा कि एक नौकर हो तो निश्चित होकर व्यापार कर सकता हूँ—वह सोच ही रहा था कि कोई नौकर मिल जाय तो उसको रखलू। जब सेठ ने उस आदिवासी को देखा तो उससे पूछा कि तुम यहाँ पर किस लिए आए हो ? उसने कहा कि मै नौकरी के लिए आया हूँ। सेठ ने कहा कि तुम मेरे यहाँ रह जाओ। वह बोला—"क्या मजदूरी दोगे ?" "सेठ ने कहा एक रुपया रोज दूगा और बढ़िया खाना खिलाऊँगा।" "उसने पूछा काम क्या करना है।" "सेठ ने कहा, मजदूरी या श्रम नही करना है। मेरे वृद्ध पिता है, उनके पास बैठ जाओ, वे इशारा करे वह काम कर देना। वे बोल नही सकते है—सिर्फ हाथ से इशारा करते है।" वह अन्दर जाकर सेठ के पिताजी के पास बैठ गया।

गर्मी का मौसम था। लू चल रही थी। ऊपर पखा जोर से घूम रहा था उससे और भी ज्यादा गर्मी महसूस हो रही थी। सेठ के पिता ने हाथ से इशारा किया कि पखा बन्द कर दो। आदिवासी ने सोचा कि यह घूम रहा है इसको बन्द करना है। उसने जबान से कहा कि बन्द हो जा—लेकिन पखा सुनता और समझता है क्या ? आदिवासी ने देखा कि मानता नही है, मूर्ख है। उसने सोचा कि इसको रस्सी बाधना चाहिए। वह एक रस्सी लाया। पखे से लपेट कर स्तम्भ से बाँध दिया। रस्सी टूट गई। उसने सोचा कि यह बहुत बड़ा ताकतवर है। हैरान हो गया। सेठ का काम नही करूँगा तो नौकरी से निकाल देगे।

एक साँकल पड़ी थी उसको लेकर पखे के लपेट कर खम्भे से बाँधने लगा। इतने मे सेठ आ गया। सेठ ने पूछा कि तू यह क्या कर रहा है ? आपके पिताजी ने इसे बन्द करने के लिए कहा लेकिन यह नालायक मानता ही नही है। पहले रस्सी लपेटी, उसको तोड दिया,

इसलिए अब साँकल से बाँध रहा हूँ । सेठ ने कहा कि साँकल से भी कही पंखा बाँधा जाता है ? या तो यह साँकल टूटेगी या पखा पिताजी के ऊपर गिरेगा, तो उनको खत्म कर देगा । सेठ ने कहा कि तू रहने दे मैं बन्द कर दूंगा । वह दीवार के सहारे गया, हाथ से बटन दबाया, स्विच ऑफ किया और पंखा बन्द हो गया । उस जगली ने सोचा कि यह जादूगर है । उसने कहा कि यह विद्या मुझे याद नही है । सेठ ने उसको समझाया कि पंखा बन्द करने का वटन यहाँ पर है । इसको दवाने से पखा वन्द होता है और इसी बटन से चालू भी किया जा सकता है । तुम्हारी दृष्टि पखे पर है, वटन पर नही । यह तो उस आदिवासी की बात हुई ।

आपके मन का पखा बाहर नही, अन्दर घूम रहा है । जब तक हमको सामायिक में रस नही आएगा, यह मन का पखा सरलता से वश में आना वाला नही, लोहे की साकल से भी बाँधा जाने वाला नही है । इसको वन्द करने का वटन भीतर है और आप बाहर से देख रहे है । इसलिए साधना की उपलब्धि नही हो रही है । ४८ मिनट की सामायिक मे बैठ कर भीतर प्रवेश कर जाते है, आत्म-समीक्षण मे लग जाते है तो पंखे का स्वरूप समझ मे आ जाता है ।

यह ज्ञान का ज्ञान अर्थात् आत्म-समीक्षण आपके लिए भारी पड़ रहा है, किन्तु आप इस तथ्य को जीवन मे नही लायेंगे तब तक शुद्ध सामायिक नही कर सकेंगे । आप चिंतन करे कि यदि आप परतन्त्र है, मन रूपी घोडे के स्वामी नही है, मन, इन्द्रियाँ और जीवन के मालिक नही है तो अपने आपके मालिक कैसे वन सकते है । स्वय के मालिक वनना है तो, समीक्षण ध्यान की साधना से मोह को जीतना है । मोह पर व्यक्ति हावी हो जाता है तव वह उसको जीत लेता है । मोह को जीतने से मन को भी जीत लेता है । तव संसार मे उसकी विजय हो जाती है ।

मैं सूक्ष्म विषय मे चला गया, फिर भी आप ध्यान से सुन रहे है । मै अनुमान करता हूँ कि आप मे साधना के विषय के प्रति रुचि है, यदि रुचि नही होती तो गड़बड करते । आप मे जिज्ञासा है । आप यह जानते है कि नवीन विषय आया है उसमें रुचि ली जाए कि यह विषय हर रोज सुनने को नही मिलता । आप वात समझने की कोशिश करते

है, यह सुलक्षण है । किन्तु सुनने के साथ आप अन्दर के विका
छोड़ने का प्रयास करेंगे तो सब कुछ विजय कर लेंगे, नहीं तो एक
अनेक जन्म बिता देंगे फिर भी कोरे रह जायेंगे ।

आप समीक्षण के माध्यम से भीतर जाने की कोशिश
जिससे यह जीवन सार्थक हो जाय । प्रभु महावीर की वाणी
हो जाय । जीवन का वास्तविक तत्त्व ज्ञात हो जाएगा तो अ
जीवन मंगलमय बनेगा—आत्म-समीक्षण दृढ़ बनेगा और आप
आनन्द के द्वार तक पहुँच सकेंगे ।



१० | कर्म-फल समीक्षण

अन्न जल से निर्मित मनुष्य तन के पवित्र स्वरूप को विकसित करने के लिये पवित्र पुरुषों का स्मरण और उनके उपदेश को हृदयंगम करना आवश्यक है। स्मृति जितनी पवित्र बनेगी जीवन उतना ही पवित्रता की ओर बढेगा। स्मृति को पवित्र बनाने के लिये उपदेशामृत का चिन्तन और मन की निर्मलता व एकाग्रता आवश्यक है। उसके बिना साधना नही बनती और साधना के बिना जीवन सुसस्कृत नही होता। जीवन को सुसस्कृत बनाने के लिये ही यह धर्म सभा का आयोजन है। इस आयोजन मे भाई बहिन अपने अमूल्य समय का उपयोग करके, उपस्थित होकर श्रवण करते है। लेकिन चिन्तन यह करना है कि हम श्रवण कान से ही नही करे, मन से भी करे। किसी भी वस्तु का जायका, रस लेना है तो वह जिह्वा से लिया जाता है। उसकी शरीर मे परिणति जठराग्नि से होती है। वैसे ही सुनने का काम कान का है। इसे अच्छे या बुरे रूप में परिणत करना मन का काम है। मनुष्य चाहे कितना ही बढ़िया से बढ़िया भोजन करले, लेकिन यदि उसकी जठराग्नि व्यवस्थित नही है, अर्थात् विकृत है, विषयुक्त तत्त्व से खराब हो गई है, तो उसमे जो भी बढिया से बढिया अन्न पहुँचेगा, वह भी विषयुक्त बन जायेगा। अपना साधारण शरीर-विज्ञान कहता है कि शरीर जब ज्वरयुक्त हो जाता है, अर्थात् बुखार तेज रूप से चढता है तब वात, पित्त, कफ बिगड जाते है, अर्थात् बुखार सन्निपात का रूप ले लेता है तो उस समय अमृत तुल्य दूध और उसमे घुली हुई मिश्री उदर में जाकर पॉयजन अर्थात् विष का काम करती है। जब मनुष्य को अपच, अजीर्ण हो उस समय वह भोजन करता है तो वह भी विष के रूप मे परिणत होता है। यह शरीर की प्रक्रिया जठराग्नि के साथ है—पाचन क्रिया के साथ है।

मन एक जठराग्नि

वैसे ही जीवन की प्रक्रिया मन के साथ है। जीवन निर्माण की

जठराग्नि मन है। वह मन रूपी जठराग्नि यदि मन्द है तो कुछ औषधि का सेवन करके तीव्र वनाना चाहिये। यदि उसकी पाचन क्रिया विकृत हो गई है तो उसका इलाज करके उसे व्यवस्थित करना है। मन की जठराग्नि ही जीवन का रस तैयार करेगी और वर्तमान जीवन सुखी और समृद्धि-शाली तभी बन सकेगा जबकि जीवन की तन्दुरुस्ती वास्तविक रूप मे आयेगी। इस तन्दुरुस्ती को लाने के लिये पहले थोडा आत्म-समीक्षण करलें कि मन की जठराग्नि व्यवस्थित है या नही।

इसका अवलोकन, इसका देखना समीक्षण दृष्टि से ही होता है और वह होगा एकान्त के क्षणो मे। भीड के बीच मे, अनेक व्यक्तियो से बात करते हुए, मनुष्य अपने मन को नही देख पाता है। वह इधर-उधर की बातों को सुनने मे लग जाता है और उनमे रस अधिक आ जाने से अपने आपको व्यवस्थित नही रख पाता।

इसलिये प्रभु महावीर ने साधना का स्वरूप बताया और कहा कि साधना एकान्त मे ही शुद्ध वन सकती है। किसी मनुष्य को एकान्त वहुत कम मिलता है। परिवार के सदस्यों के बीच में रहकर साधना करेगा तो एकान्त कहाँ मिलेगा ? धर्म स्थान मे आयेगा तो वहाँ एक ही व्यक्ति नही रहता —अनेक व्यक्ति आयेगे-जायेगे। जगल मे जायेगा तो वहाँ भी पशु-पक्षी वगैरह आयेगे-जायेगे, फिर एकान्त कैसे हो ?

एकान्त का अर्थ

यहाँ एकान्त का तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष रहित वना जाय, उन्हे नही आने दिया जाय। साधना मे बैठे तव राग-द्वेष युक्त जितनी कल्पनाएँ आती है जो कि मन को विकृत वनाती है, जठराग्नि को जहरीली वनाती है, उनसे रहित वना जाय। इसकी औषधि यदि कोई है तो वह है समता और इसी समता की साधना के लिये सामायिक मे वैठना है। यह सामायिक साधना कितनी लाभप्रद है, कितनी महत्त्वपूर्ण है; वर्तमान और भविष्य के जीवन को कितना उज्ज्वल वनाती है, यह प्रत्येक मानव के समझने का विषय है। समता की औषधि ४८ मिनट के लिये ले, उसको ठीक तरह से पचाने की कोशिश करे और देखे कि यह जो औषधि ली जा रही है, वह अन्दर जाकर कही दूसरा रूप तो धारण नही कर लेगी ? इसलिये पहले मन मे जो कचरा है, राग-द्वेष है, उसे वाहर फैंक दे। अच्छा वैद्य पहले पेट का रोग देखता है। जुलाव देकर पेट को साफ करता है, फिर औषधि का

प्रयोग करता है । वैसे ही आपके मन मे मल तो नही भरा है ? पाप वासना तो नही भरी हुई है ? इसे देखने का अवकाश अन्य समय मे नही मिलेगा, क्योंकि आप अन्य समय मे घरेलू कार्य मे लगे रहते है । उस समय मन की तरफ नही देख सकते । उस समय तो घर के ही दृश्य सामने आयेंगे और यदि आप व्यापार में लगे हुए है तो उस समय व्यापार की वस्तुएँ ही दिखाई देगी, मन को नही देख सकेंगे । ऑफिस के समय ऑफिस का काम देखेंगे । जब आप निद्रा में है तो आप बेहोश है । उस समय भी आप मन को नही देख पायेंगे । इन सब कार्यों को छोडने के बाद राग-द्वेष को हटाने के लिये जब आप समता की औषधि लेंगे, सामायिक साधना मे आत्म-समीक्षण करेंगे तब अपने अन्तरंग के अच्छे या बुरे रूप को देख सकेंगे और जब मन की पुरातन गन्दगी पर आपका ध्यान जायेगा तो आप अपने हानि-लाभ या शुभ-अशुभ को अपने ही कर्मो का फल मान लेंगे ।

कभी-कभी कर्मो का फल तत्क्षण मिल जाता है । पाप करके आये हो, तो उसका प्रभाव मन पर होगा । भविष्य मे पाप करने की चेष्टा करते हो तो उसका प्रभाव भी मन मे आप अनुभव करेंगे । कभी पाप का फल पहले मिल जाता है । आपने पाप कार्य रूप मे परिणत नही किया, लेकिन पाप की क्रिया करने का संकल्प ही किया है, उसका इतना असर होगा कि पाप-क्रियापूर्ण नही होने से पहले ही उस क्रिया का फल मिल जायेगा । आप कहेंगे कि यह कैसे हो सकता है—इसे आप रूपक मे समझ जायेंगे ।

मन से वाणी और काया में

एक व्यक्ति मन में दूषित भावना लेकर चल रहा था । वह सोच रहा था कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है । आज मै जाऊँ और उस शत्रु को समाप्त करदूँ । शत्रु को समाप्त करने के लिये उसके मन में पाप संस्कार जम गये । वे संस्कार पाप की एक सीमा तक ही थे । पापी के मन मे पाप पैदा हुआ, यह कच्ची अवस्था है । जैसे दूध को गर्म करने की दृष्टि से चूल्हे पर रखा । जैसे जैसे गर्मी लगेगी वैसे वैसे दूध गर्म होता चला जायेगा । जब दूध तप जायेगा तब उसमें अंगुली डालोगे तो गर्म मालूम होगा । यदि और कुछ देर आग पर रखा रहा तो पूरा गर्म हो जायेगा । जब उफान आने की स्थिति होगी तो बरतन से बाहर निकलने लगेगा । आपने दूध गर्म करने वाले व्यक्ति को देखा होगा । उसकी पहचान यह है

कि जब भाप बाहर निकलती है तो पानी के छींटे से उफान बैठ जाता है।

वही परिस्थिति आपके मन रूपी बरतन की है। पाप मन से पैदा होता है और भावना मे तीव्रता आती है तो वाणी से कहने लग जाता है। फिर वाणी तक ही सीमित नही रहता, मन मे इतना पक्का विचार हो जाता है कि—मुझे अब शत्रु को खत्म कर देना है। तब वह काया में परिणत होने योग्य बन जायेगा। पाप का फल पाप करने से पहले भी मिल सकता है, और पाप करने के बाद भविष्य मे भी। भविष्य मे कुछ साल बाद भी मिलता है। पाप के फल के पहले मिलने से यहाँ यही तात्पर्य है कि मानसिक परिणाम दूषित हुए और द्वेष बढा। दुश्मन को खत्म करने की भावना तीव्र हुई और जब मारने के लिये पहुँचता है उस समय उसके दुश्मन को भी ज्ञात हो गया कि यह पुरुष मुझे मारने के लिए आ रहा है।

एक दूसरे की भावना एक दूसरे को ज्ञात हो सकती है, यदि व्यक्ति सवेदनशील है तो यन्त्र की आवश्यकता नही रहती। टैलीपैथी की प्रक्रिया से एक दूसरे के भाव इतनी द्रुतगति से जाते है कि उन भावो को रोक नही सकते।

सूर्य की किरणो की गति का नाप वैज्ञानिको ने किया। किरणे आकाश से आती है। उनकी गति का अनुमान भी कर लिया, ये किरणे एक सैकण्ड मे १ लाख ८६ हजार मील की दूरी पार करती है। लेकिन विचारो की गति किरणों की गति से भी अधिक तेज है।

अच्छे विचारों का प्रवाह बाहर जाता है तो बुरे विचारो का प्रवाह भी बाहर जाता है। मनुष्य किसी पर वार करने के लिये मन मे पक्के विचार लेकर चलता है और जिसके लिये बुरे विचार आये है, वह व्यक्ति ५० हजार मील की दूरी पर है, लेकिन जिस वक्त उस पुरुष ने इसके प्रति बुरे विचार मन मे पैदा किये उस समय विशेष अन्तर नही पडेगा—कुछ ही समय मे उस व्यक्ति के मन मे प्रतिक्रिया पैदा हो जायेगी कि अमुक व्यक्ति मुझे मारने के लिये आ रहा है। ऐसे कई उदाहरण आज मनो-विज्ञान की दृष्टि से सामने आये है। शास्त्रकारो ने इसका बहुत विश्लेषण किया, इसकी बहुत बारीकी से व्याख्या की है।

विचारों का समीक्षण

उस व्यक्ति ने मन में विचार कर लिया कि अमुक व्यक्ति को मुझे मारना है। वह व्यक्ति उसी समय उठ गया और मकान से बाहर निकला और आधा रास्ता पार करके चला आया। उसने हत्या तो नही की, लेकिन हत्या करने का विचार पक्का हो गया।

दूसरे व्यक्ति के मन में यह भावना जगी कि अमुक व्यक्ति मुझे मारने के लिये आ रहा है। वह भी मकान से बाहर निकला। जो उसको मारने के लिये आ रहा था, वह रास्ते मे मिल गया। उस पर उसने ऐसा घातक प्रहार किया कि वह छटपटा कर वहीं मर गया। जो मारने का संकल्प लेकर चला था, वह बीच मे ही मारा गया। किन्तु उसके क्रूर परिणामों से उसे कर्मबन्ध हो गया है। इस कर्मबन्ध का परिणाम भी सामने आ गया। भावो की तीव्रता से पाप को कार्यरूप मे परिणत करने से पहले ही उसको पाप की भावना मात्र करने का दण्ड मिल गया। यदि वह उस व्यक्ति को मार डालता तो सरकार उसको बाद मे दण्ड देती या नही देती. किन्तु उसे वह मिल गया।

आप अपने एकान्त के क्षणों मे अपनी मनोवृत्तियो का समीक्षण करे कि राग-द्वेष और मोह की दशा कैसे दूर हो सकती है।

कभी-कभी ऐसा प्रसंग आता है कि पाप को करते करते ही उसका फल प्राप्त हो जाता है।

तात्कालिक कर्म फल

एक सरदार बस में बैठ रहा था। बैठते-बैठते उसको एक खरगोश नजर आया। उसको मारने के लिये छुरा निकाला। वह खरगोश पर छुरा फैंकने ही वाला था कि संयोग ऐसा हुआ, छुरा उसके ही हाथ पर पड़ गया और हाथ पर गहरी चोट लगी। वह खरगोश को तो नही मार पाया, लेकिन उसको उसी समय सबक मिल गया।

कभी पाप करने के बाद फल मिलता है तो दो तीन सप्ताह मे भी मिल सकता है। कभी वर्षो बाद मिल सकता है।

कर्म-फल के सन्दर्भ मे कुछ वर्षो पूर्व की एक घटित घटना है। मेरठ जिले के दादरी गाँव मे एक पहलवान रहता था। पहलवानी करने के बाद वह दूध पीता था। दूध भी पर्याप्त मात्रा मे आवश्यक था। वह दूध खरीद कर लाया और उसे बरतन मे डालकर सिगड़ी पर गर्म करने को रख दिया तथा सोचा कि कसरत करके वापस आकर दूध पीलूँगा। हडिया रखकर कसरत करने चला गया। वहाँ पर एक कुतिया थी जो चुपके से आकर कुछ दूध पी लेती थी। ऐसा उसने कुछ दिनो तक देखा। उसने सोचा कि कोई मनुष्य तो यहाँ दिखता नही है फिर दूध कौन पी गया?

एक दिन उसने कुश्ती को गौण किया और हडिया को रख कर कौने मे छिपकर बैठ गया। कुतिया का रोजाना का अभ्यास था, उसने दूध पीना चालू किया। पहलवान चट से निकलकर बाहर आया और कमरे मे कुतिया को बन्द कर दिया। कुतिया ने कितना दूध पीया होगा—इतने दिनो मे अधिक से अधिक एक-दो किलो पीया होगा। उस पहलवान ने लोहे की शलाका तपाई और कुतिया की आँखो मे डाल कर उसकी आँखे फोड़दी। देखिये, मनुष्य कैसे अपने जीवन का दुरुपयोग करता है और कैसे मन को मलीन करता है। कुतिया तत्क्षण तो नही मरी लेकिन उसको इतनी वेदना हुई कि तीन दिन बाद वह समाप्त हो गई। पहलवान ने खुशी मनाली कि मैने दूध का बदला चुका लिया। कहते है—कुदरत मे देर है लेकिन अन्धेर नही है। सरकार देख लेती तो कुतिया को मारने का दण्ड दिया जाता या नही। ऐसा प्रावधान कानून में है या नही? लेकिन कुदरत रचना मे देर है, अन्धेर नही। इससे उसका इतना कर्म बन्धन हुआ कि वे कर्मबन्धन सप्ताह भर मे ही उदय मे आगये। पहलवान की दोनो आँखो मे इतनी शूल चलने लगी, इतनी जलन लगने लगी कि सहना कठिन हो गया। उस भाई की आँखो मे वेदना इतनी तीव्र हुई कि वह भी सात दिन मे समाप्त हो गया। यह निकट भविष्य में फल प्राप्ति की बात हुई। किन्तु जिसके मन मे पवित्रता होती है, वह मन के संस्कारों को ठीक करता रहता है। उसे कुछ अच्छा निमित्त मिलता है, उसे मारने का प्रयास करता है तब भी नही मार सकता और मारने वाला मारने की भावना का दण्ड पहले ही पा लेता है।

ऐतिहासिक घटना

ऐसी ही एक घटना मेरठ के पास पांचली गाँव मे हुई—दो किसान

पाँच मील की दूरी से चलकर बैल खरीदने के लिये पहुँचे। बैलों की जोड़ी १२०० रुपयो में तय करली। सौदा तय करते-करते घंटा भर रात्रि व्यतीत हो गई। दोनों व्यक्तियो ने आपस मे विचार किया कि अपन दो हजार रुपये लेकर आये है। १२०० रुपये बैलो की जोड़ी के देने है। बैलों की जोडी और बाकी रुपये लेकर जगल के रास्ते से जाना है। घंटा भर रात्रि गई है। रात्रि मे जाने में खतरा है। इसलिये आज की रात्रि यहाँ रह जावे, सवेरे चले जायेंगे।

जिससे बैल खरीदे थे उससे कहा कि आज रात्रि में हम यही पर रह जाते है, कल सवेरे चले जायेंगे। उसने यह सुन लिया था कि इनके पास दो हजार रुपये है। उसने कहा—ठीक है, आज रात्रि मे यही पर रह जाओ। उनके लिये इन्तजाम कर दिया। बाहर की पड़साल में दो खाट डलवा दिये, बिस्तर बिछा दिये, और दोनों को सुला दिया।

कृषक भी दो भाई थे। बैलों के खरीदार तो निद्रा के अधीन हो गये। उन दोनो भाइयो के मन मे पाप की वासना जगी। उन्होंने सोचा कि प्रातःकाल होते होते बैलो की जोड़ी ले जायेंगे, १२०० रुपयो मे सौदा हुआ है, १२०० रुपये अपने को मिल जायेंगे। इनके पास दो हजार रुपये है, अपना मकान गाँव के किनारे पर है, अपना खेत पास मे है, बस्ती नजदीक मे नही है, रात्रि मे कौन देखने वाला है। इनको रात्रि में समाप्त कर दिया जाय। दो हजार रुपये अपने को मिल जायेंगे और बैलो की जोड़ी भी पास मे रह जायेगी। उन्होने षड्यन्त्र कर लिया। दोनों ने अपनी पत्नियों से कहा कि तुम तैयार रहना। बाहर के यात्री आये है। जब हम इशारा करे तब छुरा उनकी गर्दन के पार करदेना। हम गन्ने के खेत में गड्ढा खोदने जा रहे है। उनको इस गड्ढे में डालकर ऊपर से रेत डाल देगे। किसी को भी पता नही चलेगा। पहले हम गड्ढा तैयार करले, तुम छुरा लेकर तैयार रहना। हम जब इशारा करें तब उनकी गर्दन में छुरा भौंक देना।

जैसे को तैसा मिल जाता है। उनकी पत्नियाँ भी वैसी ही थी। उन्होंने कह दिया कि हम तैयार रहेगी। आप गड्ढा खोद लीजिये। दोनों भाई खेत में गड्ढा खोदने चले गये। उन्होने सोचा कि इस समय यहाँ पर कौन आ सकता है। वे गड्ढा खोद रहे थे और उसी तरह की बाते कर रहे थे।

सयोगवश एक भाई उधर से जा रहा था। उसके कान में उन भाइयो की बातो की भनक पडी। कान मे शब्द गये तो उसने सोचा कि कोई खतरा है। ये किसी का धन हडपना चाहते है। उसने अनुमान कर लिया कि बाहर के मुसाफिरो को मारने का षड्यन्त्र दिखाई देता है। वह भाई घूमकर उन दोनो व्यक्तियो के पास पहुँचा। उनको जगाकर कहा कि जल्दी मेरे साथ चलो। तुम्हारा जीवन खतरे मे है। वे दोनो उठकर सम्भल गये, और उसके साथ चल दिये।

उधर युवा वय के दो पुरुप, जो उन्ही के पुत्र थे, घर मे आये। उन्होने देखा कि आज नाटक देखने मे ज्यादा समय लग गया। लेकिन सोने के लिये सीधे खाट मिल गये, चलो सो जाओ। दोनो मुँह पर कपडा ओढकर आनन्द से सो गये। जगेरा था, सोते ही उनको नीद आ गई।

रात्रि मे १२ बजे के लगभग गड्ढा खोदकर दोनो भाई आये और पत्नियो को इशारा कर दिया। दोनो स्त्रियाँ छुरा लेकर निकली और दोनो पुरुषो के ऊपर से कपडा उठाये बिना ही छुरा दोनो की गरदन के उस पार कर दिया। दोनो को खत्म कर दिया। खत्म करने के बाद स्त्रियो ने कमीज की जेब टटोली। जेब मे दो हजार रुपयो के बजाय बारह आने ही निकले। वे नाटक देखकर आये थे। उनके पास केवल इतने ही पैसे बचे हुए थे। सोचा कि रुपये दूसरे ठिकाने रखे होगे। कहाँ जाते है, बाद मे देख लेगे। दोनो पत्नियो की सहायता से दोनो मृतको की लाशो को गड्ढे मे डालकर मिट्टी डाल दी और खुशी मनाने लगे। दोनो रात्रि मे सो गये। पत्नियाँ भी सो गई।

कितना ही एकान्त मे पाप किया जाय, दुनिया जाने या नही जाने लेकिन उनका मन जानता है, मन उनको चैन नही लेने देता, चारो को रात्रि मे नीद नही आई। सूर्योदय होने के बाद दोनो भाई कुए पर गये। वहाँ उन्होने देखा कि बैल खरीदने वाले दोनो व्यक्ति कुए पर मुँह-हाथ धो रहे है। उन्होने सोचा कि यह क्या हो गया। वे लौटे और जाकर लाशे देखने लगे। उन दोनो के ही जवान लड़के मारे गये थे। पुलिस को पता चला और वह सारे परिवार को गिरफ्तार करके ले गई।

दृष्टान्त का परिप्रेक्ष्य और आत्म-समीक्षण

देखिये, इस अज्ञान परिपूर्ण जीवन की कैसी दुर्दशा है। उन्हे पता

ही नही है कि हमारा जीवन कैसा है। जीवन को सुन्दर बनाने का कैसा कार्यक्रम होना चाहिये और कौनसा विधि विधान है। आप वीतराग देव के अनुयायी है। भाग्यशाली हैं। आपको बहुत बड़ी पुण्यवानी का उदय है, जो ऐसे आध्यात्मिक जीवन के उदाहरण श्रवण करने को मिल रहे है। आपको सारे ससार में विशिष्ट साधना प्रणाली मिली है। मै भी सकेत कर रहा हूँ कि आप जीवन की पवित्रता साधने के लिये, जीवन को तन्दुरुस्त बनाने के लिये अपने मन की वृत्तियो का समीक्षण करिये। इसमे ऐसी पाप वासना का मल तो सचित नही है। यदि पाप-मल का सचय है, तो पहले उसको मन से बाहर निकालिये, बाहर निकालने का कार्यक्रम बताया जा चुका है कि अन्य कार्य करते हुए यह कार्य नही कर सकते। जुलाब लेना होगा तो एकान्त में जाकर मल का विसर्जन करना पडता है। मन के मल को त्यागने के लिये समय आपके पास है या नही ?

आप महानगरी के सभ्य लोग है। जहाँ युगद्रष्टा आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहब ने ६० वर्ष पहले चातुर्मास किया था—घाटकोपर में। वह इस महानगरी का सघ है। वहाँ के लोग सौभाग्यशाली है कि उन्हे हर वर्ष सन्त-सतियो की उपलब्धि होती है। इतनी वीतराग वाणी श्रवण करने को मिलती है। ऐसा अवसर, जो सौभाग्यशाली होते है, उनको ही मिलता है।

आज भिन्न-भिन्न नगरो से आये हुए सघ भी मेरे सामने हैं। उदयपुर का भी बड़ा सघ है। उनको भी हर वर्ष चातुर्मास मिलता है। अब तो वृद्ध सन्तो को वहाँ स्थविर रूप मे बैठा दिया है जिनसे बारहो ही मास खुराक मिलती है। अन्य ग्रामों को भी मिलता है। क्या है आपसे पूछलू कि आपने मन के मैल को दूर करने के लिये एकान्त स्थान की खोज करली है ?

सामायिक-काल समीक्षण : समीक्षण के धरातल पर

मै कह रहा हूँ कि राग-द्वेष को दूर करिये, समता की साधना में जुटिये। यह सामायिक साधना आनन-फानन मे आने वाली, खिलौने की तरह नही है। यह महत्त्वपूर्ण साधना है। इसको खयाल मे रखिये। आप भाई-बहिन यह चितन करले कि ४८ मिनट के लिये मु हपत्ति बैठने का

लेबल लगाकर सावद्य योगों का त्याग कर लेगे। माला फिरा लेगे, भक्तामर का पाठ कर लेगे। इतने मे ४८ मिनट पूरे हो गये, सामायिक हो गई। लेकिन यह चिन्तन किया या नही कि ४८ मिनट के लिये संसार का त्याग किया ? सावद्य योगो मे १८ पापो का परित्याग किया ? दो करण तीन योग से। १८ पापो के नाम याद होगे या बताने पड़ेगे ? हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का त्याग किया ? राग-द्वेष आने के कारणो को हटा दिया ? इस रूप मे कोठरी मे प्रवेश हो गया। किन्तु प्रवेश करके जुलाब लेकर दूषित विचारो के मल का विसर्जन किया या दूसरा काम करने लगे ? भक्तामर का पाठ करना अच्छा है लेकिन खयाल करिये कि भक्तामर के श्लोक जिसने जाने है, उनके ध्यान मे यह आना चाहिये कि ऐसे जो भगवान हो गये है, मै उनकी स्तुति कर रहा हूँ। आप माला फेरेगे तो माला के मणके हाथ से चलाते रहेगे, जिह्वा चलती रहेगी, किन्तु मन भी उसके अनुरूप चलता है या नही ? जिह्वा चलने लगी, किन्तु नवकार मन्त्र का उच्चारण शुद्ध है या अशुद्ध है ? मन चारों तरफ घूम रहा है। इस समय भी वह सामायिक का कार्य नही कर रहा है। कदाचित् अच्छी धार्मिक पुस्तक आपके पास आ गई तो पढने लगे। आपका मन उसमे लग गया। ज्ञान हो रहा है। श्रुत ज्ञान की उपलब्धि हो रही है। नये-नये विषय आ रहे है। तात्त्विक विषय समझ मे नही आयेगा। परन्तु रुचि हो गई तो आपका मन उसमे लगने लगेगा। मन लगना ठीक है। लेकिन कब लगाना ? जिस उद्देश्य से एकान्त के कमरे मे गये है, पहले वह काम करना या यह काम करना। मै इसको और स्पष्ट कर दूँ। एक व्यक्ति ने पेट का मल साफ करने के लिये मल त्याग हेतु घर मे प्रवेश किया। दस्त देर से लगती है। वहाँ बैठा बैठा पुस्तक पढ रहा है। मनोविज्ञान की दृष्टि से ध्यान कहिये कि मन पुस्तक मे लग जाता है तो दस्त का ध्यान नही रहता है। शौच निवृत्ति की हाजत होती है—दस्त की तरफ ध्यान देते है तो मल बरवस चला जाता है।

मन को पाप रूपी मल से खाली करना है उसके पश्चात् समता रूपी औषधि की मात्रा लेनी है, और आत्म-समीक्षण की साधना मे प्रवेश करना है। वही प्रवेश साधना का रस प्रदान करने वाला बनेगा। सामायिक के कार्यक्रम मे आपका मन डोलता रहा, केवल भक्तामर के शब्दो मे रह गया तो पुण्यवानी तो बँधेगी, लेकिन जिस उद्देश्य से सामायिक साधना मे बैठे है, वह उद्देश्य सिद्ध नही होगा। मन के भीतर रहने वाले पाप रूपी

मल को विसर्जित करना है तो सामायिक मे बैठकर विसर्जित करिये
फिर पवित्र समीक्षण के द्वारा संस्कारों को भरिये। ये पवित्र संस्
आपकी चेतना में कब आयेंगे, जबकि आप समता के सिद्धान्त मे रम जा
और तव आपको रस आये बिना नहीं रहेगा।

यह कार्य जिसने सही अर्थो मे किया है, चाहे वह सम्राट् रहा
या सेवक, उसके मन की वृत्तियाँ ही शुद्ध हुई है, उसका समीक्षण ग
हुआ है और इसी समीक्षण की अन्त:शोधी प्रक्रिया के द्वारा आप
बन्ध के कारणो का एवं उन्हें अवरुद्ध करने तथा निष्कासित करने
उपायों का ज्ञान प्राप्त कर तीनों योगों को विशुद्ध वना सकेंगे।



११ समस्या–तनाव : समाधान समीक्षण

ज्वलन्त समस्या

यह निर्विवाद सत्य है कि आज का अधिसंख्य जन जीवन विभिन्न प्रकार के तनावो से गुजर रहा है। कही मानसिक तनाव है तो कही आर्थिक, पारिवारिक एव सामाजिक। कही राजनैतिक तनाव है, तो कही व्यावसायिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय विधि-नियमो की दुरूहता के। सब मिलाकर पूरा पर्यावरण तनावों की दुर्गन्ध से दूषित-सा हो गया है।

किन्तु जहाँ समस्या है, वहाँ समाधान भी होता ही है। मनोवैज्ञानिको का कथन है कि जितने प्रश्न खड़े होते हैं, उतने ही समाधान पूर्व में ही निश्चित होते है। समस्त तनावों से मुक्ति का एकमेव समाधान है—ध्यान-योग। ध्यान-योग से केवल मानसिक तनाव ही दूर होते हैं, ऐसी धारणा सत्य से बहुत दूर है। ध्यान-साधना केवल मानसिक तनावों से ही नही, आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनैतिक सभी तनावों से मुक्ति दिलाने मे सक्षम है। चूंकि समस्त तनावों का मूल उद्‌गम तो मनोवृत्तियो का तारतम्य ही है। अतः मनोवृत्तियों के तारतम्य में समरसता ध्यान-योग से लायी जा सकती है। तत्त्व-द्रष्टा ऋषियो ने कहा है—"मनो विजेता जगतो विजेता", मन की विजय विश्व की विजय है। मन के सध जाने पर आर्थिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सभी स्थितियों मे समरसता का प्रादुर्भाव होगा और समरसता को ही तनाव मुक्ति अथवा ध्यान-योग कहा जा सकता है।

ध्यान-योग की विभिन्न विधियो में आगमानुमोदित समीक्षण ध्यान की विधि का अपना अलग ही स्थान है। जैसा कि "समीक्षण ध्यान: प्रयोग विधि" नामक पुस्तक मे बताया गया है—समीक्षण का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से द्रष्टा भाव पूर्वक देखना। यह देखने की प्रक्रिया भी विभिन्न रूपों मे होती है, जिसका कुछ विवेचन इसी मे किया गया है। यहाँ अब

समीक्षण ध्यान साधना के आगे के प्रयोगो का उल्लेख करना अधिक उचित होगा, जो कि साधक को एक क्रमबद्ध आयाम प्रदान कर सके।

समाधान–समीक्षण ध्यान

समीक्षण की साधना, आत्म निरीक्षण की साधना है। इसे सम्यक् प्रकार से साधने के लिये "समीक्षण ध्यान प्रयोग विधि" में प्रतिपादित निर्देशानुसार समय एवं स्थान की नियमितता सध जाने के पश्चात् जीवन-गत व्यवहारों में उसके प्रभाव का अध्ययन किया जाना चाहिये। वास्तव में वही साधना सफल मानी जाती है, जिसमे परिवार, समाज एव राष्ट्र मे रहते हुए भी साधक का चित्त अप्रभावित रहे।

एकान्त के क्षणों में

जब समाज और राष्ट्र के बीच में रहते हुए भी जीवन मे ध्यान की क्रियान्विति हो, मन विक्षुब्ध न हो, तभी वह ध्यान-साधना परिपक्व कही जा सकती है। क्योकि साधक जब एकान्त के क्षणों में बैठता है तब मन को उत्तेजित करने वाले निमित्त प्रायः शून्यवत् रहते है। निमित्त अनेकों के बीच में मिलते है। उन निमित्तों को पाकर मन में राग-द्वेष की चिनगारियाँ सुलगने लगती है। उस समय यदि ध्यानाभ्यास का प्रयोग किया जाय तो समीक्षण की प्रक्रिया के द्वारा वृत्तियों को सम्यक् प्रकार से देखने में सरलता बन जाती है।

ध्यान-साधना की है या नही, इसका भी अहसास तभी हो सकता है, जब निमित्तों के बीच भी मन अनुद्वेलित बना रहे। चूं कि एकान्त स्थान में उत्तेजना कारक निमित्तों का अभाव रहने से मानसिक वृत्तियाँ कुछ तो स्वतः शान्त रहती है, तथापि कुछ विचारों का सिलसिला मन की अस्थिरता के कारण एकान्त क्षणों में भी चलता ही रहता है। किन्तु वह उतना उत्तेजक नही होता। समीक्षण ध्यान क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? उसके द्वारा जीवन में क्या-क्या उपलब्धियाँ हो सकती है, तथा इसके माध्यम से कहाँ तक गहराइयों मे पहुँचा जा सकता है—इत्यादि विषयक अनुभूति तभी हो सकती है, जबकि मन को अस्थिरता के परिणामस्वरूप उत्पन्न विचार तरंगें उन विकट स्थितियों मे भी समाहित रहे।

उन तरंगो को समाहित करने के लिये समीक्षण ध्यान का प्रयोग आवश्यक है। ध्यानावस्था मे भी मन की अस्थिरता के परिणामस्वरूप

विचारो की अस्त-व्यस्तता किस रूप में है, किस हेतु से बन रही है, इसके पीछे मूल कारण क्या है, इत्यादि विषय का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करना साधक का मूल कार्य है। क्योकि वह तत्कालीन अवलोकन, मन को स्थिर करने मे विशेष उपयोगी होता है। अवलोकन के उसी क्रम से साधक आगे बढता रहे तो वह मन सम्बन्धी स्थूल वृत्तियों के साथ-साथ सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम वृत्तियो के अवलोकन करने का अभ्यासी बन जाता है। कदाचित् किसी साधक को उस साधनावस्था मे उठने वाली—वर्तमान की सूक्ष्म तरगो का अवलोकन कठिन भासित हो तो ऐसे साधको के लिये भूतकालिक मानसिक प्रवृत्तियो को स्मृति-पटल पर उभारना और उन वृत्तियो का सम्यक् प्रकार से, समग्र दृष्टिकोण से अवलोकन कर भविष्य मे वैसी घातक, प्रमाद-युक्त पुनरावृत्ति न हो, इस बात का अभ्यास करना चाहिये। जिससे वह इस विषय मे अधिक सक्रिय हो सके, और उसके लिए समीक्षण साधना के प्रारम्भिक सोपान पर पहुँचना सम्भव हो सके।

तात्पर्य यह है कि समीक्षण ध्यान का साधक यदि आत्मा की सूक्ष्म वृत्तियो के अवलोकन मे अपने आपको अक्षम अनुभव करे तो इसकी पूर्व स्थिति मे मन को साधने के लिये जीवन की, अतीत दिवस की वृत्तियों का अवलोकन करे। "गत दिवस का जीवन-क्रम किन अच्छाइयो अथवा बुराइयो मे व्यतीत हुआ" इस अनुचिन्तन मे चित्त को नियोजित कर दे।

वर्तमान वृत्तियों का अवलोकन

ध्यान साधना मे भूतकालीन वृत्तियो का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करने का अभ्यास बन जाने पर वर्तमान की मानसिक अस्थिरता शनै. शनैः समाप्त होगी, और वर्तमान मे भी जिन वृत्तियों का प्रकटीकरण नही हो रहा है, किन्तु मानसिक सूक्ष्म तरगे मन के ऊपर उभर रही है, उन तरंगों के मूल मे जो हेतु है, उसका भी अवलोकन करता हुआ साधक यह भी अभ्यास करले कि इस वक्त निर्जन एकान्त स्थान है, पर साधनावस्था से निवृत्त होते ही व्यक्ति, परिवारादि के मध्य मे सांसारिक व्यवहारों का प्रसंग उपस्थित होगा। उस समय मन को उत्तेजित या विकृत करने वाले कई प्रसग आ सकते है, उन प्रसगो पर समीक्षण ध्यान का प्रयोग किस विधि से हो ? जिससे कि यह समीक्षण दृष्टि परिमित समय में ही न रहकर जन-समुदाय के बीच मे भी प्रयोगात्मक रूप से

जीवन में साकारता धारण करती रहे। जिससे व्यक्ति व्यावहारिक क्षेत्र मे भी अपना मानसिक संतुलन कायम रख सके। यही नही, वह प्रतिकूल व्यवहार को भी प्रतिकूलता के रूप में न देख कर समभावपूर्वक देखने का अभ्यासी बन जाए।

प्रतिकूल व्यवहार

साधना के उन अमूल्य क्षणों में आत्मालोचन पूर्वक स्वकेन्द्रित चिन्तन इस रूप में हो कि किस प्रतिकूल व्यवहार से मेरा माना हुआ अहंभाव, जिसको मैंने ममत्व के रूप में पकड़ रखा है, समत्व भाव में परिणत हो जाय। जिस विधि से जीवन में यह अभ्यास होगा वही विधि समीक्षण ध्यान की प्रयोग विधि कहलायेगी।

उस प्रयोग विधि मे ही जीवन की बहुमूल्य घड़ियाँ व्यतीत होती रहें। एतदर्थ आने वाले प्रतिकूल शब्द को किस रूप मे ग्रहण किया जाय, यह अभ्यास इस साधना काल में सध जाने से साधना काल के अतिरिक्त समय में ध्यान प्रयोग को निर्भयता पूर्वक आचरण मे लाया जा सकता है।

एक सामान्य सा उदाहरण लें—

व्यावहारिक क्षेत्र में कभी एक दूसरे को समझाना पड़ता है। कभी-कभी प्रसंग आता है कि जिस विषय को पूर्व में श्रवण न किया हो, बुद्धि में पूर्ण संस्कार उभर न पाये हों, ऐसा विषय समझते समय समझाने वाले से जिज्ञासा दृष्टि पूर्वक पुनः पुनः पूछने का प्रसंग भी आ सकता है। उस वक्त समझाने वाले महानुभाव वार-वार एक ही प्रश्न श्रवण कर अपने मानसिक सन्तुलन को खोकर कभी कह बैठ कि अरे मूर्ख ! इतना भी नही समझ रहा है ? उस वक्त उस मूर्ख शब्द को हजम कर पाने और शब्द के निमित्त से होने वाली कलुषित वृत्ति को अपने मन-तंत्र मे स्थान न देने तथा उस मूर्ख शब्द को सुरक्षित रूप मे मानस तंत्र से हटा देने की कुशलता आ जाय तो समीक्षण ध्यान के प्रयोग का अनुभव किसी सीमा तक सिद्ध माना जा सकता है।

मूर्ख शब्द एक विषैला कैप्सूल

उस मूर्ख शब्द को किस रूप मे देखा जाय, यह एक विचारणीय

प्रसग है। इस शब्द के कलेवर मे भरे हुए उत्तेजित भाव रूप पॉईजन को एन्टीबायटिक कैप्सूल के रूप मे देखने का अभ्यास होना चाहिये।

विष से भरे हुए कैप्सूल को किसी नीरोग, स्वस्थ व्यक्ति को खिलाने के लिये उसके हाथो मे कोई पकड़ाता है, तो वह स्वस्थ व्यक्ति उस कैप्सूल के ऊपरी चमकते कवर को देखकर भी यह जानता है कि इसके भीतर जहर भरा हुआ है, अतः उसे खायेगा नही। यदि कोई अस्वस्थ व्यक्ति है तो उसने भी मुख मे रख पानी की घूट से पेट मे नही उतारा तो यह कवर मुख मे टूट जायेगा। उस वक्त रसनेन्द्रिय एव मुख मे रहने वाली स्पर्शनेन्द्रिय उस पॉयजन का अनुभव करेगी, मुख के अन्दर कितनी जलन व पीड़ा होगी, मुख की निर्मल कोशिकाएँ है, उनके आघात के साथ ही जिह्वा और जवड़ा फफोलो से इतना भर सकता है कि जिसका कई दिनो तक शमन न होने से कोई वस्तु नही खाई जा सके और छटपटाना पड़े। वेदना से निरन्तर आर्त्त-ध्यान बना रहे। परिणामस्वरूप बुद्धि इसी ओर लगी रहने से अन्य कार्य नही हो सकेंगे। इस रसनेन्द्रिय व स्पर्शनेन्द्रिय के प्रत्यक्ष अनुभव से यह अनुमान किया जा सकता है कि कैप्सूल को तत्क्षण पानी के साथ अन्दर उतारा गया तो वह भीतर मे विस्फोट करेगा। कवर टूटते ही, पाचन-तन्त्र की स्वस्थ कोशिकाओं के क्षतविक्षत हो जाने से गृहीत पदार्थ का पाचन नही होगा। उसके अभाव मे रस की कमी रहेगी। शरीर की अन्य कोशिकाओ को पाचन-यन्त्र द्वारा निर्मित स्वास्थ्य वर्धक रस न मिलने एवं रक्तादि की कमी से शारीरिक मानसिक आदि कमजोरी भी व्याप्त होगी। अनेक रोगो का भाजन वन कर यह स्वास्थ्यमय जीवन खतरे मे पड सकता है। यह तो एक रूपक है, अनुभूतिपूर्वक हर व्यक्ति के समझ मे आ जाये इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इसे ध्यान एव जीवन व्यवहार की दृष्टि से समझे।

स्वच्छ मानसिक तत्र और पवित्र आध्यात्मिक वृत्तियो के स्वास्थ्य को सन्मुख रखते हुए साधक समीक्षण दृष्टि से उस मूर्ख शब्द को उसी कैप्सूल के रूप मे कल्पित करके उसके भीतर की विकृतियो को मूर्ख शब्द की प्रतिक्रिया पॉइजन के रूप मे देखे और उसका प्रवेश भीतर मे न होने दे। उसके कर्णगोचर होते ही समभाव के साथ उस पर प्रशस्त चिन्तन प्रारम्भ करदे। उसी दृष्टि से अनुचिन्तन करे कि यह मूर्ख शब्द रूप एन्टीबॉयटिक कैप्सूल मेरे मानसिक तंत्र मे पहुँच कर विखरा तो मानसिक

तंत्र की जितनी स्वच्छता है, वह सम्पूर्णतया विकृत हो जायेगी। नियत्रण क्षत-विक्षत होगा। मानसिक अशान्ति एवं तनाव के साथ-साथ उस जाति के उत्कृष्ट विष के तुल्य विद्वेष रूप पॉइजन भीतर पैदा होगा। कदाचित् वचन के माध्यम से मूर्ख शब्द को शब्द रूपी कवर मे भरकर पुन: प्रयोग कर्ता के पास प्रेषित करने का प्रसग आया तो उसके अन्दर तो असन्तुलन व विद्वेष की चिनगारियाँ दग्ध कर ही रही थी, किन्तु मेरे द्वारा प्रयुक्त···· "तू मूर्ख है" यह शब्द रूपी कैप्सूल और विस्फोट करेगा। यह तो धधकती हुई अग्नि में घासलेट का काम होगा। जिससे उसका मानस तन्त्र अधिक क्षत-विक्षत होगा। साथ ही वह ज्वाला वायुमण्डल के भावात्मक प्रवाह मे अनेकानेक व्यक्तियो के मानस तंत्र मे कलुषित भाव तथा विद्वेष की आग सुलगायेगी। मेरे प्रति भी सम्भव है कि वह अधिक विद्वेष रूपी विप को शब्दों में भरकर प्रयोग करेगा। उससे न मेरा आन्तरिक जीवन सुरक्षित रह पायेगा और न ही उसका। इस प्रकार मानसिक, वाचिक एवं परंपरा से कायिक क्षति के साथ-साथ वर्तमान जीवन को सक्लेशित करना किसी भी रूप में हितावह नही है। ऐसा समभावपूर्वक चितन करते हुए साधक प्रारम्भ में आने वाले मूर्ख शब्द को उसी समीक्षण दृष्टि से यथावत् देखकर उसको एक तरफ रख दें।

जैसे—स्वस्थ व्यक्ति उस एन्टीबॉयटिक कैप्सूल को हाथ मे लेकर एक तरफ रख देता है। मुँह में प्रवेश नही होने देता, फलत: तज्जनित अशान्ति का अनुभव नही करता, वही स्थिति उस व्यक्ति की भी होगी जो उस मूर्ख शब्द को कर्ण गोचर होने पर भी अन्दर पकड़ने की चेष्टा नही करेगा। वह उसे एक तरफ छोड़ता हुआ उस शब्द रूप कैप्सूल को जिस समीक्षण दृष्टि से देखेगा उसी दृष्टि से मूर्ख शब्द प्रयोगकर्ता महाशय को भी देखेगा। अपने भीतर प्रतिक्रियाओ का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन कर समतापूत अमृत रस से आप्लावित भावों को मधुर शब्द रूप विटामिन के कैप्सूल तुल्य बनाकर मूर्ख शब्द प्रयोग कर्ता को, अपनी आत्मा के तुल्य, समीक्षण दृष्टि से देखता हुआ साधक, चिन्तन करे कि मेरी कम समझ के कारण इन समझाने वाले महाशय के भीतर जो विद्वेष रूपी पॉइजन पैदा हो गया है, वह इनके मानस तन्त्र को कितनी क्षति पहुँचायेगा, इसकी अनुभूति मै अपनी आत्मा से करता हुआ, विटामिन के तुल्य विनम्र-मधुर शब्दों का प्रयोग करूँ जिससे इनके मानस तंत्र मे हुई क्षति समाहित हो जाय। इस प्रयोग से इन महानुभाव के भीतर आन्तरिक

क्षति-पूर्ति हो या न हो, पर मेरे जीवन में तो मै अपनी आन्तरिक सुरक्षा के साथ इनके निमित्त अमृत रस का झरना तैयार करलूं। जिससे मै शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक स्वास्थ्य की सुरक्षा के साथ स्वयं की प्रज्ञा को इतनी विकासोन्मुख कर लूं कि अन्य अनेक प्राणियों के लिये विशुद्ध भावात्मक वायु-मण्डल के साथ आन्तरिक सुरक्षा का वायु-मण्डल निर्मित कर सकूँ।

शब्दों का अमी रस

ऐसा अनुचिन्तन करता हुआ समीक्षण साधक अमीरस से आप्लावित मधुर शब्दों का उसके प्रति प्रयोग करे कि आपने महान् कृपा की। मेरे क्षयोपशम की कमी से इस नवीन विषय को समझने में मै सक्षम नही हुआ, इसलिये पुन. पुनः आपसे पूछ कर आपको कष्ट देना पड़ा, आप क्षमा करे। मै आपके इस शब्द को समीक्षण दृष्टि से अवलोकित करता हूँ, और सोचता हूँ कि मुझ मे मूर्खता है, तो आपने सत्य ही बात कही, वस्तुस्थिति का बोध मुझे कराया। इसलिये मै आपका उपकार मानता हूँ। साथ ही साधक यह भी चितन करे कि मुझमे वस्तुत. मूर्खता की अवस्था विद्यमान नही है तो यह शब्द मेरे लिये नही है। मै क्यो इसको अपने अन्दर प्रवेश पाने दूँ। एक तरफ छोड़ दूँ। क्यो नही किसी के द्वारा प्रेषित शब्द का विपरीत अर्थ न लेते हुए उसे सही अर्थो मे ही ग्रहण करूँ ?

यह एक रूपक है। इस रूपक के माध्यम से साधक सर्व प्रथम पिछली रात्रि के नियत समय में समीक्षण ध्यान की साधना प्रतिदिन कम-से-कम एक घण्टे तक करे। उस साधना मे सांसारिक सभी विचारो को विलग कर दे।

ससार से सम्बन्धित कलुषित भाव ममत्व वृत्ति को अभिभूत कर समग्र आत्माओ को अपनी आत्मा के तुल्य अनुभव करता हुआ उस ध्यान मे ऐसी समीक्षण दृष्टि निर्मित करे, जिससे उसे व्यावहारिक क्षेत्र मे भी घण्टे भर की साधना का आस्वादन स्वयं आता रहे और अन्य को भी वह उसी भाव से नमूने के तौर पर आस्वादन कराता रहे जिससे व्यक्ति, परिवार, समाज एव राष्ट्र मे समता का वायु-मण्डल निर्मित हो और राग-द्वेष कलह कदाग्रह की वृत्तियो के शमित होने के साथ ही साथ तनाव ग्रस्त मस्तिष्क शान्ति का अनुभव करे। यह समीक्षण ध्यान के प्रयोग की एक प्रक्रिया है।

समीक्षण साधना की इस प्रक्रिया का मूल तत्त्व यह है कि साधना काल में हमारा ऐसा गहरा अभ्यास हो जाय कि मन की प्रतिकूल परिस्थिति मे भी मन उद्वेलित न हो। उसकी समता विचलित न हो। विरोधी-विद्वेषकर्ता को भी साधक समभाव से देख सके। उत्तेजनात्मक परिस्थितियों में भी मन अनुत्तेजित बना रहे। यही तो साधना का मूल आधार और यही अभ्यास समीक्षण ध्यान के साधना काल मे होना चाहिये।

साधना काल—एक घण्टे तक तो मन स्थिर रहे और वहाँ से उठते ही सामान्य से निमित्तों पर उद्वेलित हो जाय तो उसे साधना की सफलता नहीं माना जा सकता।



१२ | अवस्थान समीक्षण

अवस्थान समीक्षण

विश्व की प्राकृतिक रचना जब दृष्टिपथ पर आती है, तो अनेक तरह की विचार तरगे उद्भूत होती है। लगता है कि इस प्राकृतिक रचना मे कितनी समता, सौम्यता एव सहज-स्वाभाविकता भासित होती है। इसमे विषमता का पुट दृष्टिगत नही होता। पर यह समता एव सरलता चराचर एव जड चैतन्य रूप जगत की प्राकृतिक रचना है। इसका अवलोकन करने वाला चैतन्य देव, इनमे समता की कल्पना कर सकता है। सरलता एव सहजता के भाव को भी शिक्षा की दृष्टि से ग्रहण कर सकता है। जड़ तत्त्व मे समता, सरलता एव नैसर्गिकता को समझने की योग्यता नही है, क्योकि चैतन्य से सम्बन्धित ज्ञान धारा एवं उपयोग का कर्तृत्व उसमे कतई नही होता। पर चैतन्य देव का भी जो नैसर्गिक स्वभाव है, वह भी एक देशीय उपमा की तुल्यता से समता, सरलता आदि का आधारभूत है।

चैतन्य देव में चैतन्य शक्ति के साथ-साथ ज्ञान धारा उपयोगादि शक्तियो का कर्तृत्व विद्यमान रहता है। यही तो जड एव चैतन्य की भेद-रेखा का मुख्य हेतु है। पर वर्तमान परिवेश मे चैतन्य देव अपनी स्वाभाविक अवस्था को विस्मृत कर विषमता के दलदल मे फँस गया है। अतएव उनकी समग्र शक्तियाँ विषमता से अनुरजित हो चुकी है। परिणाम स्वरूप वह प्राय: विषमता को ही अपना साथी समझने लगा है। इसी से ज्ञान-शक्ति अज्ञान के रूप मे एव दर्शन शक्ति मिथ्या दर्शन के रूप मे परिणित हो गई है। जिस वस्तु को जिस रूप मे देखना चाहिये, उस वस्तु को उस रूप में न देखकर राग से अनुरजित दृष्टि से देखता है। इसके विपरीत अन्य वस्तु को द्वेष के रूप मे देखता है। यद्यपि जानना, देखना एव श्रद्धा करना यह सब चैतन्य-कर्तृत्व मूलक है एव चैतन्य गुण से अनुरजित है। फिर भी पर-पदार्थो की छाया, अज्ञानतावश चैतन्य देव ने अपने रूप में ले ली है। यह चैतन्य शक्ति का दुरुपयोग ही कहा जायेगा।

चैतन्य की बाह्य वृत्ति

इसी दृष्टि से चैतन्य देव ने अपनी सहयोगी अन्य चैतन्यात्माओ को देखना प्रारम्भ कर दिया है। परिणामस्वरूप वह साथी एव सजातीयता का सम्वन्ध विस्मृत कर अन्यान्य सम्वन्धो से उनको देखने लगा है। ये सारे सम्बन्ध कृत्रिम एव मन कल्पित होते है और इसी कारण चैतन्य देव की प्रायः समग्र प्रवृत्ति विषमता मूलक बन गई है। परिणामस्वरूप वह स्वय अपने आप मे उलझने लगा है, तनावग्रस्त होकर चिन्ता रूप चिता में स्वयं को जलाने लगा है। प्रायः यही विषमता दु ख एव द्वन्द्व की जननी बन कर चैतन्य देव को परतन्त्र बना रही है। चैतन्य ने इसके अधीन-विकारग्रस्त होकर अपनी स्वतन्त्रावस्था को विलुप्त कर दिया है और अहर्निश इसी दुःख-द्वन्द्व एवं तनाव की अवस्था में रहता हुआ वह सही दिशा निर्देशन भी नही ले पाता है। न उसको अपनी विवेक शक्ति जागृत हो पाती है, न वह अन्य की परामर्श शक्ति का उपयोग कर पाता है। किकर्तव्यविमूढ़ होकर चैतन्य देव स्वय के दु.ख द्वन्द्व को समाहित करने के लिए बाह्य सम्पत्ति, भौतिक वैभव को सचित करने के लिये अपना जीवन समर्पित कर चुका है। दिन-रात प्रतिक्षण इसी बाह्य वैभव को प्राप्त करने के लिये लगा रहता है। इस लगन में वह अपने आपकी शक्तियो को इतना सिकोड़ता है, इसका दुष्परिणाम क्या होगा एव इस प्रकार के विचारो में उलझे रहने की अवस्था में अगले जन्म की आयु बँध गयी तो इस महत्त्वपूर्ण मानव तन की उपलब्धि का क्या होगा ? यह इसे खोकर पशु योनि मे गाय, भैंस, बैल, कुत्ता, बिल्ली आदि के रूप में पहुँच जायेगा अथवा विकलेन्द्रिय या स्थावर, कायिक जीवों की पर्याय को धारण करेगा, अथवा भयंकर क्रूर कर्मो के कारण नरक निगोद का मेहमान होगा, आदि कुछ भी वह नही समझ पाता।

ऐसी असमंजसपूर्ण मनःस्थिति में वह स्वय तो दु·खित है ही, साथ ही परिवार, समाज राष्ट्र एवं विश्व को भी संपीड़ित करता है। वह चाहे साक्षात् हो या परम्परा से, किसी रूप में ही, विश्व के मानवों के लिये कष्टप्रद अवस्था का हेतु बनता है। साथ ही प्रकारान्तर से मान, वे हर प्राणियों का भी अहित एवं दु ख सम्पादन करता है।

स्वयं की अवस्था को विकृत बनाता हुआ विश्व के समग्र प्राणियों की अवस्था को भी विकृत बनाने मे निमित्त भूत होता है। यह सव विप-

मता रूप शासक का अभेद्य सा विस्तृत जाल है। इस जाल को समझना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। ऐसी विषमतम परिस्थिति मे चैतन्य देव स्वय की स्वाभाविक समता को—नैसर्गिकता को प्रकट करना तो दूर, समझ ही नही पाता। क्योकि इस विषम सम्राट् की राजनीति जटिल बनी हुई है। इसी राजनैतिक चक्रव्यूह ने चैतन्य देव को किवा उस समता मूलक विवेक शक्ति को घनघोर कर्मो के रूप मे आवृत कर दिया है।

तीन अवस्थान

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतना की अवस्थाओ को मुख्य तीन अवस्थान के रूप मे विभाजित किया गया है।

१. स्थूलावस्थान, २. सूक्ष्मावस्थान और ३. सूक्ष्मतमावस्थान। उनकी परतो के अन्तर्गत आवरण रूप में इतनी प्रतर आ गई है कि जिनका एकाउण्ट करना अति कठिन बन चुका है। एक प्रकार से वहाँ आवरक पर्तो का भॅवर सा बन गया है, जिसके मध्य मे पडने पर निकलना अति दुष्कर होता है। जैसे अनेक बार पानी के प्रवाह मे भँवर बनता है। उस भॅवर के बीच कोई वस्तु गिर जाती है तो उसका बाहर आना अति कठिन हो जाता है। चैतन्य पर विषमता का उससे भी अधिक जटिल भॅवर बना हुआ है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वहाँ एक चक्रव्यूह का रूप बना हुआ है। जैसे अनेक ताडियो वाले दो चक्र अति शीघ्र गति से एक-दूसरे की विपरीत दिशा में घूमते है जिससे कि उन ताड़ियो के बीच छिद्रो को कोई देख नही पाता। कोई एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही पैनी दृष्टि से उन चक्रों को ताडियो के अन्तर छिद्रो को देखकर निशाना साध सकता है, साधारण व्यक्ति नही। वैसे ही कोई विरला साधक ही अवस्थानो के अन्तर्गत प्रतर रूप चक्रों के बीच, छिद्रो से परे चैतन्य देव के नैसर्गिक स्वभाव को देखने में सक्षम हो सकता है।

तीसरी उपमा अलातक चक्र की दी जा सकती है। अलातक चक्र उसे कहते है कि एक रस्सी के एक मुँह पर अग्नि की चिनगारी लगा कर कोई बलवान व्यक्ति अति शीघ्रता से उसको गोलाकार रूप में घुमाता है। देखने वाले को ज्ञात होता है कि छोर रहित यह आग का चक्र है। कही पर भी इसका छोर दृष्टिगत नही होता है। जैसे अलातक चक्र के छोर का पता लगाना दुष्कर है, उससे भी अति दुष्कर स्थिति चैतन्य पर आवृत पर्तो के चक्रो की है। क्योकि पूर्वो के कर्म-चक्रो के उदय रूप में परिणित

होने पर उनके अनुरूप परिणाम बनते है। उन परिणामों से पुनः वैसे ही कर्म बन्धन होकर चक्र का निर्माण होता है। इस प्रकार परस्पर विपरीत दिशा में चलने वाले शुभाशुभ परिणामो के फलस्वरूप प्रतर रूपी चक्रों का क्रम बनता रहता है। इस क्रम की प्रतरों के अन्तर्गत अवस्थाओं का अवलोकन अति ही कठिन बन जाता है।

इन चक्रों के मध्य मे अति सूक्ष्म दृष्टि वाला चैतन्य देव अपनी सहज स्वाभाविक-नैसर्गिक दशा को देखने के लिये उद्यमवंत बनता है। तब उस साधक चैतन्य के लिये सूक्ष्म दृष्टि के रूप में समीक्षण ध्यान की अति सूक्ष्मावस्था को प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। उसकी प्राप्ति हेतु उस साधक को सर्वप्रथम इन चक्रों के नवीन आगमन को रोकना नितान्त आवश्यक है। उसकी रुकावट तभी हो सकती है, जबकि वह अपने स्थूलावस्थान रूप स्थूल शरीर को एवं उनके साथ संयुक्त इन्द्रिय वर्ग को नियन्त्रण में ले आवे।

इन्द्रिय वर्ग के प्रधान पाँच अग है।

उनका क्रम इस प्रकार है:—१ श्रोत्रेन्द्रिय, २. चक्षुरिन्द्रिय, ३ घ्राणेन्द्रिय, ४. रसनेन्द्रिय, ५ स्पर्शनेन्द्रिय। इन्ही के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाला द्रव्य-मन एवं उनके साथ सम्बन्धित भाव-मन है।

समीक्षण-वृत्तियों का

इन्द्रियाँ मन के माध्यम से स्व-स्व के विषय में प्रियाप्रिय का स्वरूप प्राप्त करने एवं परिहार में तत्पर होती है। प्रिय को आसक्ति पूर्वक ग्रहण करना और अप्रिय का विद्वेष के साथ परिहार करने का कार्य सम्पादित होता है। उस अवस्था में साधक के लिए विषय सम्बन्धी स्वरूप का एव मन की वृत्तियो का सविज्ञान भी अपेक्षित रहता है। क्योकि जब तक इन्द्रियो के विषय से सम्बन्धित वस्तुओ का यथावत् अवबोध नही होगा, तब तक उनके प्रति आसक्ति रूप लगाव शिथिल नही होगा और उसके अभाव में कर्मबन्ध के नवीन सिलसिले को स्थगित किया जाना अति कठिन होगा। अतएव इन्द्रियों के विषय से सम्बन्धित पदार्थों का वास्तविक स्वरूप अनुभूतिपरक प्रज्ञा से ही हो सकता है। उसकी प्रज्ञा का उद्बोधन प्रभु महावीर ने दिया है। यथा—"पण्णासमीक्खए धम्मं" प्रज्ञा से धर्म के स्वरूप को सम्यग्रीत्या देखो। इसी प्रकार—"आयत् चक्खु लोग विपस्सी" अर्थात् दीर्घ चक्षु से शरीर लोक को विशेप विज्ञान के साथ देखने वाला

पुरुष ही स्थूलावस्थानादि तीनो अवस्थानों की स्थूल एव सूक्ष्म संधियो का भलीभाति समीक्षण दृष्टि से अवलोकन कर सकता है ।

शरीर समीक्षण

जब चैतन्य देव साधक का रूप स्वीकार कर अन्तर्यात्रा का पथिक बनता है तब वह स्थूल शरीर से सम्बन्धित आवारक कर्मो के समग्र हेतुओ को अनुभूतिपूर्वक जान कर भविष्य के लिये उन हेतुओं की पुनरावृत्ति को रोकता है । तदनन्तर भूतकालीन आवारको के वर्तमान कालिक उदय अवलोकित करने के समीक्षण ध्यान दृष्टि का उपयोग करता है । उसके उपयोग करने मे प्रारम्भिक अवस्था स्थूल, दृश्य शरीर पर साधने की होती है । अतः उस स्थूल शरीर के ऊपरी स्वरूप का समभावपूर्वक अवलोकन करते हुए स्थूल शरीर के व्यवहारो के हेतु भूत भीतरी व्यवहारों का भी विज्ञान करता है किन्तु यहाँ यह स्मरणीय रहे कि इस विज्ञान को सम्पादित करने के लिये अपूर्ण व्यक्तियों का मार्गदर्शन प्राय. सफलीभूत नही हो पाता है ।

अपूर्ण पुरुष, चाहे कितना भी विद्वान् हो, पर उस विद्वत्ता में संपरिपूर्ण ज्ञान वाले आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का अवलम्बन लेकर चितन मनन के साथ उन्हें स्वयं के जीवन में स्थान देने पर उस आचरण की अवस्था में जो अनुभूति के साथ यदि वह आगे का निर्देशन-सम्मुख रखकर विवेचना करता है तो उस विद्वान् पुरुष की विद्वत्ता ग्राह्य हो सकती है । पर जिन्होने अपनी जिन्दगी में सम्परिपूर्ण ज्ञानियों की सिद्धान्त पद्धति का सहारा नही लिया, और अपूर्ण व्यक्तियों की विभिन्न पद्धतियो का अवलम्बन लेकर जो कुछ भी मनः कल्पित लिख दिया, वह ग्राह्य नही हो सकता । क्योकि ऐसी विद्वत्ता जीवन विकास एवं योग-साधना में सफल नही हो सकती । कदाचित् किसी विद्वान् ने सम्पूर्ण ज्ञानियो के सिद्धान्तो का सहारा भी लिया हो पर साधना विषयक प्रतिपादन प्रायः अपूर्ण व्यक्तियों का लिया हो, वह भी भ्रान्तिजनक होता है । अतएव सम्पूर्ण ज्ञानियो के सिद्धान्तो में जो भी जीवन विकास एवं योग-सम्बन्धी प्रावधान रहा हुआ है, उसे ही आधार मानकर की जाने वाली साधना समीक्षण साधना है, और वही साधना आत्म शान्ति का अंग बन सकती है ।

शास्त्र वाक्य अथवा आगमिक विषय अति गूढ एवं गम्भीर है, जिसको साधारण साधक सागोपांग समझने मे अक्षम है । अथवा उस

सारभूत संक्षिप्त सिद्धान्त वाक्यों के रहस्य को एवं सिद्धान्तानुकूल विकास सम्बन्धी विषय को समझने में सक्षम नही वनता है। ऐसे साधकों के जीवन विकास हेतु एवं अपनी स्वय की अगली मंजिल पर ऊर्ध्वारोहण करने के लिये जो संपरिपूर्ण ज्ञानियों के रहस्य को स्वानुभूति पूर्वक निकाल कर अभिव्यक्त करता है, वह विद्वान् भले ही संपरिपूर्ण ज्ञानी न हो, पर सम्पूर्ण ज्ञानियों के सिद्धान्तों का अवलम्बन लेकर साधना विषयक योग पद्धति की विवेचना करता है तो वह स्वयं के लिए और अन्य साधकों के लिये सर्वथा ग्राह्य बन सकती है।

ऐसा पुरुष कभी एकान्तवादी नही वनता है। अतः उसकी बुद्धि के द्वारा सदा सर्वदा सत्य तथ्य उद्घाटित होते रहते है। ऐसे प्रज्ञा-सम्पन्न साधक के द्वारा की गई विवेचना वीतराग आज्ञा सम्पन्न कही जा सकती है।

आगम अध्ययन-समीक्षण दृष्टि से

प्रस्तुत प्रकरण में समीक्षण दृष्टि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उसका निष्कर्ष यही है कि साधक उन स्थूल व्यवहारों को समझने के लिए संपरिपूर्ण ज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग देवों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र वाक्यों मे आगत विषय को समीक्षण ध्यान सम्बन्धित पद्धति में प्रवेश करने हेतु ग्रहण करें।

अन्तिम तीर्थेश प्रभु महावीर ने जिन मौलिक सिद्धान्तो का निर्देशन दिया है, वे ही निर्देशन मौलिक रूप में अन्य समग्र तीर्थंकरों ने दिये है। इस विपय में किसी भी तीर्थंकर देव की कोई भी विपमवादिता नही रह सकती।

प्रारम्भ में कुछ संकेत दिया गया है कि समीक्षण ध्यान का विपय चैतन्य देव से ही सम्बन्धित है न कि जड़ तत्त्व से।

चैतन्य देव ने पर-पदार्थों की छाया में अपने पवित्र स्वरूप का विस्मरण कर दिया है। इसी के परिणामस्वरूप वह विश्व में परिभ्रमण कर विभिन्न पर्याय धारण कर रहा है। उन्हीं पर्यायों के अन्तर्गत मानवीय पर्याय भी है।

इस पर्याय के अन्तर्गत भी आये आर्य-अनार्यादि अवस्थाओं में रहने वाले मानवीय पर्याय विश्व में विद्यमान है। आर्य क्षेत्र एवं आर्य संस्कारो मे जिन मानव शरीर धारी चैतन्य देवों का अवस्थान है, उनमें से ही विरली आत्माएँ स्व-स्वरूप की उपलब्धि हेतु ललकवान वन सकती हैं।

जब इस मानव तन का उपयोग निज स्वरूप की साधना में करने की दृढ संकल्पपूर्वक तीव्राभिलाषा जागृत होती है, तब वह चैतन्य देव वीतराग देव के सिद्धान्तों का सबल लेकर चलने का प्रयत्न करता है जो साधक अपने समान अन्य पुरुषो को देखता है अथवा विसदृश मानव पर्याय से भिन्न अन्यान्य पर्याय मे रहने वाले चैतन्य देवो की शरीर सम्बन्धी हलन-चलन एवं बाह्य व्यवहार की अवस्थाएँ समभाव पूर्वक देखने का अभ्यास करता है वही साधक शनैः शनैः समीक्षण दृष्टि के स्वरूप का अनुसन्धान करता हुआ विभिन्न प्राणियो के साथ समता मूलक दृष्टि का अभ्यासी बन जाता है। तब वह स्वय के शरीर पिण्ड की बाह्य चेष्टाओ के साथ-साथ उनके हेतु भूत समस्त व्यवहारो का अनुशीलन करने के लिए समीक्षण ध्यान की पद्धति को अवश्यमेव अपनाता है।

वह साधक इसी दृष्टिपूर्वक चिन्तन करता है कि वीतराग देव ने केवला लोक में समग्र प्राणी वर्ग का वर्गीकरण चार गति के रूप में किया है। यथा :—१. नरक गति २. तिर्यंच गति ३. मनुष्य गति और ४. देव गति।

समीक्षण की योग्यता मानव तन में ही

मनुष्य गति के अतिरिक्त गति वाले प्राणी समीक्षण ध्यान की परिपूर्ण उपलब्धि नही कर सकते। उसकी उपलब्धि तो आर्य सस्कारो से सम्पन्न व स्वयं के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए तीव्र जिज्ञासावान व्यक्ति ही कर सकता है। वह जब इस साधना मे रत रहने के लिए अग्रसर होता है तो सर्वप्रथम स्वय के शरीर पिण्ड को विषय बनाता है एवं यह देखने का प्रयास करता है कि इस प्रकार के पिण्ड की उपलब्धि कैसे हुई? पूर्व जन्म मे इस शरीर पिण्ड के योग्य पुरुपार्थ के परिणामस्वरूप वर्तमान का शरीर पिण्ड इस चैतन्य देव ने धारण किया। अन्य गतियो मे से आकर इस पर्याय के रूप मे इस शरीर पिण्ड को मातृ कुक्षी मे निर्मित किया। इसी निर्मिति के प्रमुख छः हेतु है। जिनको शास्त्रीय भापा मे छ. पर्याप्ति कहा है। सर्वप्रथम आहार पर्याप्ति रूप मे शास्त्रकारो ने सकेत दिया है।

समीक्षण-शरीर निर्माण की प्रक्रिया का

चैतन्य देव पूर्व जन्म मे सपादित नाम कर्म सम्बन्धी प्रकृतियों को लेकर आता है और माता की कुक्षी मे पहुँच कर शरीर निर्माण सम्बन्धी रज-वीर्य मे से कुछ तत्त्व ग्रहण करता है। जिस शक्ति से गृहीत पुद्गलों

के खल और रस भाग को पृथक् करता है, उस शक्ति विशेष को आहार पर्याप्ति की संज्ञा से अभिहित किया गया है। तदनन्तर रस भाग का शरीर पिण्ड में जिस शक्ति के माध्यम से परिणमन होता है वह शक्ति विशेष शरीर पर्याप्ति कहलाती है। तत्पश्चात् इन्द्रिय सम्बन्धी रचना एवं अभिवृद्धि जिस शक्ति विशेष से बनती है वह इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।

इन्द्रियों के बाद जिस प्रक्रिया से शरीर के अन्तर्गत श्वास-प्रश्वास की गतिविधि विशेष रूप से कार्य करती है। उस प्रक्रिया सम्बन्धी अवयव का जिस शक्ति से निर्माण होता है, वह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहलाती है। तत्पश्चात् जिन तालवादि सयोगों से शब्द वर्गणा के तत्त्व को ग्रहण कर शब्द रूप में परिणित कर शब्द व्यवहार की पद्धति का जिस शक्ति के माध्यम से निर्माण होता है वह शक्ति भाषा पर्याप्ति कहलाती है। तदनन्तर भाषादि विषयों में प्रयुक्त होने वाले भावों के माध्यम स्वरूप तद्जातीय वर्गणा तत्त्व से मनन रूप अवस्था का जिस शक्ति से निर्माण होता है, वह है मन पर्याप्ति।

इस प्रकार इस शरीर सरचना में पर्याप्तियों का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा हुआ है, यह समीक्षण दृष्टि से सहज ही जाना जा सकता है। इन शक्तियो के अन्तर्गत कुछ विशेषावस्था भी निर्मित होती है। वह विशेषावस्था इस शरीर का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्वरूप है। उस अवस्था के रहने पर ही चैतन्य देव इस शरीर सम्बन्धी व्यापारो का यथा स्थान प्रयोग कर सकता है। वह अवस्था शरीर की प्राणभूत अवस्था मानी गयी है। उस अवस्था का कुछ वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

इन्द्रियों की क्रमिकता

इन्द्रिय पर्याप्ति के माध्यम से जिन इन्द्रियो का निर्माण हुआ है, वे इन्द्रियाँ मुख्यतया पाँच है। यद्यपि उन इन्द्रियो की निर्मिति का मुख्याधार शरीर है। शरीर के अन्तर्गत दो विभाग किये जा सकते है—१. त्वचा से सम्बन्धित २. त्वचा के अतिरिक्त। समग्र शरीर भाग-काया सज्ञा से अभिहित पाँच इन्द्रियो में से स्पर्शनेन्द्रिय का अधिक व्यापक क्षेत्र है। वह शरीर के इस छोर से उस छोर तक अर्थात् सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है।

यह इन्द्रियो के क्रमिक विकास की दृष्टि से प्रथम स्थान प्राप्त करती है। इसके पश्चात् क्रमिक विकास रसनेन्द्रिय के रूप मे उभरता है। इसका अति सीमित स्थान है। तत्पश्चात् घ्राणेन्द्रिय जो कि सूंघने

सम्बन्धी सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थों की निर्णायक है। इसी के अन्तर्गत नासिका छिद्र का, श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। तत्पश्चात् चक्षुरिन्द्रिय का प्रसग आता है। जो कि अपने विषय में विशेष कार्यकारी है और वह समस्त स्थूल, दृश्य पदार्थों का अवलोकन। अन्तिम रूप श्रोत्रेन्द्रिय का विकास होता है।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियो से युक्त चैतन्य देव पंचेन्द्रिय कहलाता है। इन पाँच इन्द्रियों मे से यथायोग्य विकास की दृष्टि से समग्र विश्व की आत्माएँ पाँच वर्गो मे विभक्त हो जाती है। जिस चैतन्य देव के न्यूनतम विकास का प्रसग है, अर्थात् जिसकी चैतन्य शक्ति अति आवृत है, वैसी आत्मा के लिये एक स्पर्शनेन्द्रिय ही विकासावस्था में रहती है। उस एक मात्र स्पर्शनेन्द्रिय के विकास से युक्त विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं, उन आत्माओ को सामान्य रूप से एकेन्द्रिय जाति की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसी के अन्तर्गत विशेष भेद प्रभेद एव अन्यावस्थाएँ सन्निहित है। इस अवस्था से चैतन्य देव विविध रूपो से अधिक विकास के हेतुओं के सयोजनो से युक्त होता है। जब उसे जातीय अवस्था से विमुक्त होकर रसनेन्द्रिय सहित स्पर्शनेन्द्रिय को पाता है तब वह चैतन्य देव स्पर्श व रसना इन्द्रिय से सम्पन्न जीवन पर्याय को उपलब्ध होने से बेइन्द्रिय संज्ञा को पा लेता है।

इस प्रकार की पर्याय वाली जितनी भी आत्माएँ है, वे सभी बेइन्द्रिय जाति रूप वर्ग मे समाविष्ट हो जाती है। इस अवस्था मे रहते हुए अगले विकास के कारणभूत पुण्य कर्मो का उपार्जन होता है, तब उस अवस्था को छोड पूर्व की दो इन्द्रियों के साथ घ्राणेन्द्रिय से सयुक्त होकर त्रिइन्द्रिय मे जन्म ग्रहण कर लेती है तो वह तीन इन्द्रिय वाली पर्याय से युक्त आत्मा त्रि-इन्द्रिय जाति के नाम से पुकारी जाती है। इस अवस्था से अधिक विकास के निमित्त वाले कर्मो से सम्पन्न इस पर्याय को छोड़कर चार इन्द्रिय वाले पर्याय मे जन्म ग्रहण करती है, तव वह चक्षुरिन्द्रिय सहित पूर्व की तीन इन्द्रियो के साथ चार इन्द्रियो से सम्पन्न पर्याय वाली चतुरिन्द्रिय वर्ग मे सम्मिलित होती है। इस प्रकार की समग्र आत्माएँ चतुरिन्द्रिय जाति के वर्ग में समाविष्ट हो जाती है। इन इन्द्रियो सम्बन्धी विकास के सयोजन को उपलब्ध होने वाली आत्माएँ पाँचवी कर्णेन्द्रिय के योग्य कर्मो का सम्पादन कर कर्ण सहित पाँच इन्द्रिय वाली पर्याय के रूप मे आती है, तब उसे पचेन्द्रिय जीव के रूप मे पुकारा जाता है। यही इन्द्रियों

सम्बन्धी विकास का अन्तिम विकास कहा गया है। इस प्रकार की जितनी भी आत्माएँ इस विराट् विश्व मे विद्यमान है, उन सबका पचेन्द्रिय जाति रूप पाँचवे वर्ग में समावेश होता है। यह इन्द्रिय सम्बन्धी विकास पाँच रूपों में बताया गया है। इनके अवान्तर रूप से विकास की तारतम्यता के अनेक भेद प्रभेद है।

यहाँ जिस क्रमिक पद्धति का उल्लेख किया गया है, उसी पद्धति से सभी का विकास हो, यह कोई आवश्यक नियम नही है। इस पद्धति में व्युत्कर्म का क्रम भी हो सकता है। एकेन्द्रिय से सीधा पंचेन्द्रिय मे भी जाया जा सकता है और पंचेन्द्रिय से सीधा एकेन्द्रिय मे भी पहुँचा जा सकता है। वैसे ही अन्य इन्द्रियों का भी व्युत्कर्म समझना चाहिये। उपर्युक्त विषय का विशद एवं भेद-प्रभेद युक्त वर्णन वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों मे भलीभाँति विद्यमान है। इस प्रकार की तारतम्यता युक्त आत्मा की अवस्थाओं का इन शताब्दियो के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी सापेक्ष-स्याद्वाद पद्धति की नयी विधि के साथ तुलनात्मक दृष्टि से समझने की जिज्ञासा रखने वाला साधक यथास्थान समझ सकता है।

उपर्युक्त इन्द्रियो के विश्लेपण से साधना के विपय को समझ लेने के बाद साधक अधिक सुविधा के साथ अन्तर् यात्रा का पथिक बन सकता है।

प्राणों का सर्जन

इन पाँचों इन्द्रियो में प्राणभूत शक्ति विद्यमान होती है तभी इन पाँचो इन्द्रियो का एवं अन्यान्य जीवन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण अंगो का सचालनादि व्यापार व्यवस्थित होता है। जहाँ भी प्राण शक्ति के अभाव का प्रसग आता है, वहाँ उससे सम्बन्धित शरीर के अवयव व्यवस्थित कार्य सम्पादन नही कर सकते।

जिस अवयव के साथ प्राणों की सबलता विशेष रूप से हो, उस अवयव का कार्य विशेप सम्पादित होता है। इसी प्राण बल की अवस्था को लेकर पचेन्द्रिय शरीर पर्याय मे दस विभाग किये गये हैं। उसका स्वरूप उत्कृष्ट इन्द्रिय स्वरूप से समझाया गया है। यह भी एक सुन्दर वैज्ञानिक पद्धति है यथा—प्राण के दो भेद है—द्रव्य और भाव।

जैन तत्त्व ज्ञान मे प्राण को समस्त चैतन्य ऊर्जा के सवाहक के रूप मे स्वीकार किया गया है। शरीर मे चैतन्य की अभिव्यक्ति का आभास

प्राणो के द्वारा ही होता है। शरीर में प्राण मुख्य है। प्राण निकल गये तो सब कुछ चला गया। फिर इस शरीर की कीमत दो कोड़ी की रह जाती है। प्राण से ही जीवन है। प्राण से ही मानव है। प्राण से शक्ति, प्राण से दीप्ति, प्राण से आनन्द, प्राण से आरोग्य, प्राण से बल-वीर्य, प्राण से सिद्धि और प्राण से लोक-परलोक गमन होता है। इतना ही नही रोग-शोक, चिन्ता, पागलपन, सौन्दर्य, कुरूपता, पुनर्जन्म और जीवन मुक्ति, सब का सम्बन्ध प्राणों से ही तो है।

सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ प्राणों में ही तो प्रतिष्ठित है। जैसे रथ के पहियो की नाभि में आरे लगे रहते है और वे उसी पर आश्रित है, उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, बुद्धि, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास सब प्राण के आश्रित है। यह प्राण ही शरीर के विभिन्न अगो मे व्याप्त होकर इन्द्रियो एव अवयवो से भिन्न-भिन्न कार्य करवाता है। शरीर को एव उसके समस्त व्यापारो को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिये यह प्राण ही कार्यकारी होता है, प्राण की इसी कार्यक्षमता को दस रूपों मे वर्गीकृत किया गया है।

समस्त जीवन प्राणों से ही स्पन्दित है। अतः समीक्षण ध्यान साधना मे प्राणो को समझना सर्वथा उपयोगी एव आवश्यक हो जाता है।

जीवन व्यवहार मे श्वास-प्रश्वास से ही प्राणो का अधिक सम्बन्ध माना गया है, किन्तु प्राणो का सम्बन्ध इतना सीमित नही है। जीवन की प्रत्येक क्रियान्विति प्राणो से अनुबन्धित है और हमारी समीक्षण साधना जीवन के हर कोण से जुडती है। अतः उसमे प्राणो का परिज्ञान बहुत अधिक महत्त्व रखता है।

यहाँ उनका सामान्य रूप ही प्रस्तुत किया जा रहा है। उस प्राण स्वरूप शक्ति के प्रमुखत. १० भेद है। पहला भेद श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण के रूप मे लिया गया है। आगे के प्रभेद क्रमश. निम्न है—(२) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण (३) घ्राणेन्द्रिय बल प्राण (४) रसनेन्द्रिय बल प्राण (५) स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण (६) मनोबल प्राण (७) वचन बल प्राण (८) काय बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास बल प्राण (१०) आयुष्य बल प्राण। इस प्रकार पचेन्द्रिय जाति के अन्तर्गत रहने वाले सज्ञी पचेन्द्रिय चैतन्य देव के शरीर पर्याय के अन्तर्गत उपर्युक्त दस प्राण होते है।

अन्तर्यात्रा में बाधक इन्द्रिय विषय

मनुष्य जाति भी इसी परिगणन मे आती है, उनमे भी आर्य-कुलोत्पन्न संज्ञी मनुष्य के जीवन का विशेष महत्त्व माना गया है। क्योकि ऐसी पवित्र सस्कृति से सम्पन्न मानव पर्याय मे रहने वाली आत्मा ही हिताहित विवेक के साथ भेद विज्ञान से सम्पन्न बनने की योग्यता रख सकती है। जब चैतन्य देव सम्यक्ज्ञान के साथ चितन मे प्रवेश करता है, तब उसको लगता है कि मेरा इस पर्याय में आना वहुत ही महत्त्वपूर्ण पुण्योदय एवं अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से हुआ है। इस अमूल्यावसर से लाभ उठा कर यदि मै अन्तर्यात्रा का पथिक बन गया तो सदा सर्वदा के लिये वास्तविक परम शान्ति एव परम सुख को एक न एक दिवस अवश्य-मेव वर लूंगा। यदि पॉच इन्द्रियो के विषय सम्बन्धी लुभावने मोहक जाल मे फस गया तो मेरी दुर्दशा ही होगी और मैं समुद्री तट पर पहुँचा हुआ भी पुनः ससार समुद्र के मध्य में जा गिरूँगा।

यह पॉच इन्द्रियों सम्बन्धी विपय मेरी आत्मा ने एक बार ही नही, अगणित बार भोग करके अनेक जिन्दगियाँ वर्वाद की है। किन्तु उस दीर्घावधि मे मै शान्ति एवं सुख के समीप भी नही पहुँच पाया। यह मेरी आत्मा की कैसी विडम्बना है। आज से पूर्व तक मै इन तथ्यो को पूर्ण रूप से समझ भी नही पाया। इसके परिणाम स्वरूप सदा भटकता ही रहा। किन्तु अब कितनी भी विकट परिस्थिति हो, विघ्न वाधाएँ, आँधी, तूफान का रूप लेकर आये, पर मै इस पवित्र आध्यात्मिक पथ से कभी भी विचलित नहीं होऊँगा। ऐसी ही दृढ़ आस्थापूर्वक भेद-विज्ञान का द्वार उद्घाटित कर अन्तर के अलौकिक दिव्य-भव्य रूप मे निवास करने वाले चैतन्य देव की छवि का समीक्षण कर सकूंगा। इसी भावना के साथ सच्चा जिज्ञासु साधक सच्चे निर्ग्रन्थ गुरु के पास पहुँचता है तो अवश्य समीक्षण ध्यान के माध्यम से आन्तरिक ज्योति को अभिव्यक्त करता हुआ अद्वितीय साधक के रूप मे स्थापित हो सकता है।

□□

१३ समीक्षण ध्यान का प्रथम सोपान : लक्ष्य-स्थिरता

समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर् पथ के पथिक बनने वाले जिज्ञासु को उपर्युक्त ज्ञान के साथ एतद् विषयक अन्य ज्ञान भी सपादित करना चाहिये। वास्तविक जिज्ञासु को सबसे पहले अपना लक्ष्य बिन्दु निर्धारित कर लेना आवश्यक है। उसके बिना साधना का कोई महत्त्व नही रहता। यदि कोई यह सोचे कि लक्ष्य की अभी क्या आवश्यकता है? पहले मै अमुक साधना के माध्यम से शरीर के भीतर अवलोकन करूं। शरीर नाशवान विनश्वर है एवं विशर्णशील है। इस भावना से शरीर के अन्दर उत्पाद और व्यय का अवलोकन करूं एव वासना विकास कषायों का उन्मूलन करू फिर आगे की ओर कदम रखूंगा, तो इस प्रकार का चिन्तन उस व्यक्ति की तरह होगा जो दिन और रात एक क्षण का भी विश्राम किये बिना सारे नगर के प्रमुख बाजारों में, गलियो मे एव नगर के उपनिवेशो (उपनगरो मे) दौड़ता रहता है और वैसी स्थिति मै उसे कोई पूछे कि तुम क्यो दौड़ रहे हो? तो वह प्रत्युत्तर देता है कि इसका तो मुझे भी पता नही, किन्तु जितना बल है उतना दौड़ने में लगा दूं, तत्पश्चात् सोचूंगा कि मुझे क्या करना है या क्यो मै दौड रहा हूँ। एक कॉलेज के विद्यार्थी से पूछा जाय कि तू कॉलेज का अध्ययन किसलिये कर रहा है? वह भी यही प्रत्युत्तर देगा कि इसका तो मुझे पता नही, किन्तु अध्ययन करलूँ, फिर निर्णय करूँगा कि अध्ययन क्यो कर रहा हूँ। लगभग ऐसी स्थिति आज कई ध्यान साधको की बन रही है। इस बात की जानकारी कुछ ध्यान साधको से चर्चा के द्वारा प्राप्त हुई।

एक साधक से पूछा गया आप साधना सामायिक आदि करते है? उन्होने कहा, मै सामायिक की साधना तो नही करता हूँ, किन्तु दो घण्टे तक ध्यान साधना करता हूँ। "आप किसकी ध्यान साधना करते हो?" तो उत्तर मिला कि शरीर मे जो उत्पाद व्यय रूपकपन हो रहा है, उसे दे हूँ।" प्रति प्रश्न किया गया—"उत्पाद व्यय के अतिरिक्त आप कुछ देखते है?" उत्तर था "नही"। तब उनसे कहा गया कि आ

ज्ञात है कि उत्पाद व्यय की प्रक्रिया किसमें होती है ? वे इसका भी उत्तर नही दे पाये। तब उनसे सकेत किया गया कि आपने जो सिर्फ उत्पाद व्यय की अवस्था शरीर में देखने का कथन किया वह भगवान महावीर के सिद्धान्तानुकूल नही है। उत्पाद व्यय तो पर्याय है। पर्याय द्रव्य के बिना नही रह सकती। द्रव्य का अवलोकन होने पर गुण और पर्याय अवलोकित होते है। गुण और द्रव्य का तादात्म्य सम्बन्ध होता है। गुण से गुणी भिन्न नही रह सकता, वैसे ही गुणी के अभाव मे गुण नही रह सकते। उत्पाद व्यय भी द्रव्य के अन्दर समाविष्ट है। अतएव जहां भी उत्पाद व्यय का प्रसंग आता है वहां ध्रौव्य की उपलब्धि अवश्य रहती है क्योकि ध्रौव्य त्रिकाल स्थायी होता है। मात्र उत्पाद-व्यय त्रिकाल स्थायी नही है। ध्रौव्य के एक समय में उत्पाद-व्यय दोनों पर्याये चलती है। अतएव प्रति समय उत्पाद-व्यय एव ध्रौव्य स्वरूप वाला द्रव्य है। साधना में प्रारम्भ से ही वस्तु स्वरूप का विज्ञान होना चाहिये। तत्त्व को परिणामी द्रव्य मानकर उसी लक्ष्य के अनुरूप साधना की जाती है। वही साधना साधक के लिये फलदायी होती है। यदि द्रव्य को परिणामी नित्य नही स्वीकारा गया तो साधना का कोई महत्त्व नही रहता। क्योकि परिणामी द्रव्य के सदा विद्यमान रहने पर ही क्रिया का फल परिणामी नित्य द्रव्य को मिलता है। यदि द्रव्य ही क्षणभगुर है, सिर्फ उत्पाद व्यय रूप ही है, तो उसका फल किसी को भी नही मिलेगा।

उत्पाद-व्यय क्रिया है, "या या क्रिया सा सा फलवती।" जब परिणामी नित्य द्रव्य ही नही है तो पर्याय रूप क्रिया का स्वामी कौन है ? ऐसी स्थिति में उत्पाद और व्यय रूप क्रिया स्वामी के अभाव में निष्फल होगी। साधना से सम्बन्धित जो क्रिया होगी, वह कर्ता के अभाव मे अस्तित्व शून्य होगी।

त्रिकाल स्थायी अस्तित्व की स्वीकृति के विना साधना फलवती नही होती अतएव किसी साधना का प्रारम्भ लक्ष्य निर्धारण पूर्वक ही होना चाहिये और वह लक्ष्य भी शुद्ध चैतन्य देव के परम एव चरम विकास का होना चाहिये। उसके ध्रौव्य स्वरूप का अनुचिन्तन करते हुए विकृत पर्याय सम्बन्धी परिमार्जन के अनुसधान के साधना का शुभारम्भ करना चाहिये। वह भले ही अत्यन्त स्वल्प मात्रा में ही क्यो न हो, किन्तु लक्ष्य का निर्धारण तो अत्यावश्यक है।

साधना का प्रभाव जीवन के व्यवहारों में

साधक को साधना मे तो लक्ष्यानुरूप साधना करनी ही होती है। किन्तु साधना के अतिरिक्त समय मे उठते, बैठते, चलते, खाते-पीते आदि सामान्य दैनिक व्यवहारो के साथ भी लक्ष्यानुचिन्तन इतना स्थायी बन जाना चाहिये कि जिससे रजनी में भी अर्थात् निद्रावस्था मे भी लक्ष्य का विस्मरण न हो। तभी साधना की सच्ची ललक (जिज्ञासा) कही जा सकती है। यद्यपि साधना मे सहायक शरीर एव शरीर के समस्त अवयवो की सहायता साधना में ली जाती है। क्योकि साधक का लक्ष्यभूत उपादान स्वरूप चैतन्य देव शरीर मे व्याप्त है। किन्तु शरीर के साथ जो विभिन्न अवस्थान है उन अवस्थानो के अन्तर्गत जितनी भी रूपी, अरूपी इद्रिय ग्राह्य एव इन्द्रियातीत अवस्थाएं है उन सभी का अस्तित्व शरीर प्रमाण क्षेत्र में विद्यमान है। स्थूलावस्थान, सूक्ष्मावस्थान एव सूक्ष्मतमावस्थान इन तीन अवस्थानो के अन्तर्गत इनकी सधियो एव प्रतरों की परिधि में चैतन्य देव स्वय कृत कर्मो से लिप्त है। उस लेपन को विलग किये बिना अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि नही हो सकती। दस प्राणो का स्वरूप जो पूर्व मे निर्देशित किया गया है, वे द्रव्य प्राण है एवं रूपी सज्ञा से अभिहित है।

भाव प्राण पारिभाषिक दृष्टि से अरूपी कहे जाते है, पर यहा अरूपी का तात्पर्य वर्ण, गन्ध, रस स्पर्शादि से विनिर्मुक्त होने के कारण है, न कि अभाव की दृष्टि से। उनका भी अस्तित्व है, अभाव नही। आपेक्षिक दृष्टि से अरूपी शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु वह भाव प्राण अरूपी तत्व स्वयं के मौलिक स्वरूप मे जहां भी रहता है, वहा उसके मौलिक गुण पर्याय भी रहते ही है। क्योंकि वे गुण सूर्य एवं सूर्य की किरणोवत् सहभावी है। सूर्य की किरणे सूर्य से संयुक्त रहती है, वैसे ही उस अरूपी आत्म तत्त्व के भाव प्राण रूप गुण आत्म-सयुक्त रहते है।

आत्मा रूपी भी अरूपी भी

जैसे द्रव्य मन के साथ भाव मन आत्मा की शक्ति विशेष रहती है। द्रव्य मन शरीर व्यापी है, भाव मन भी उसी सीमा के अन्दर है। क्योंकि परिणामी आत्मा भी शरीर व्यापी ही है। आत्मिक स्वरूप ही मूल स्वरूप है और वह अनन्त गुणो का स्वामी है। ज्ञान दर्शनादि उसके मौलिक गुण है, किन्तु कर्मो से आवृत होने से वे न्यूनाधिक रूप मे आच्छादित है। मूल में आत्मा का कर्मदशा से सर्वथा रहित अरूपी

स्वरूप है एवं उनके निज गुण भी उसी अवस्था में रहे हुए है, किन्तु वह कर्म युक्त होने से कर्म के फलस्वरूप विभिन्न शरीर पर्यायो को धारण करता रहता है। उस समय वह आत्मा रूपी भी कहलाता है, क्योकि शरीरादि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि गुण वाला है और इस शरीर की चेष्टायें आत्मा के रहने पर ही होती है। विभिन्न आत्माओं की अवस्थाएँ इन्द्रिय ग्राह्य साम्व्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में मानी गई है। अतएव जितनी भी कर्मादि शरीर के पर्यायों से युक्त आत्माएँ है, वे रूपी कहलाती है।

गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया, "रूवीभते ! आया, अरूवी आया ?" भगवान् ने फरमाया "गोयमा ! रूवी वि आया, अरूवी वि आया"। हे गौतम ! "आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी।"

जब तक आत्मा कर्म नोकर्मादि अवस्थाओ से युक्त है, तब तक रूपी कहलाती है। किन्तु इन अवस्थाओं से सर्वथा रहित होने पर आत्मा सदा सर्वदा के लिए अरूपी अवस्था में अवस्थित हो जाती है। क्योंकि उस अवस्था में रूपी पदार्थ के लक्षण स्वरूप वर्ण, गन्धादि नही रहते। वर्णादि भौतिक तत्त्वों के अन्तर्गत है। आत्मा उस शुद्ध अवस्था में अभौतिक स्वरूप में अवस्थित रहती है।

आत्मा का संकोच विकास

आत्मा के असंख्य प्रदेश, जो उसका मौलिक रुप है, वे कभी भी बिखर नही सकते। उन प्रदेशों में नित्यत्व गुण के साथ-साथ परिणामिकादि गुणों की भी अवस्था पायी जाती है। सामान्य एव विशेप रूप से उनमें सर्वगुणों का समावेश होता है और वह सकोच विकासशील स्वभाव वाली होती है। इसलिये अनादिकाल से कर्मो की आवरणयुक्त दशा में, कभी चीटी के शरीर में कभी निगोद के शरीर में अति संकुचितावस्था मे वे ही असख्य प्रदेश समाविष्ट हो जाते है। जब हस्ती आदि शरीर रूप वड़ी पर्याय प्राप्त होती है तो वे ही आत्मा के असंख्य प्रदेश उस शरीर की सीमा में व्याप्त हो जाते है।

कल्पना करिये......हजार-हजार वोल्ट के पाँच वल्व है। उन पाँचों वल्बों में प्रकाश देने की एक समान क्षमता है। उन पाँचों वल्वों को पाँच विशाल हालों में अलग-अलग रख दिये जाये तो उन पाँचों का प्रकाश पाँचों हालो को पूरा प्रकाशित करने वाला होता है। उस समय पाँच मिट्टी के

बर्तन लिये जायें। एक बडा बर्तन औंधे मुँह एक बल्व पर रख दिया जाय, दूसरा उससे छोटा दूसरे बल्ब पर, उससे भी छोटा तीसरे पर, तीसरे से भी छोटा चौथे पर और चौथे से भी और छोटा बर्तन पाँचवे वल्व पर ढक दिया जाय। उस समय उन पाँच बल्बों का प्रकाश विनष्ट होता है या संकुचित होकर दब जाता है ? कहना होगा कि उनका प्रकाश विनष्ट नही होता बल्कि पाँचों बर्तनों का जितना घेरा है, उतने घेरे मे सकुचित होकर समाविष्ट हो जाता है। उन बर्तनों का व्युत्कर्म कर दिया जाय तो सबसे बड़े बर्तन मे रहने वाला प्रकाश छोटे बर्तन के घेरे में संकुचित हो जायेगा एव छोटे बर्तन के घेरे में रहने वाला प्रकाश बड़े बर्तन के घेरे मे विकसित हो जायेगा। इसी प्रकार अन्यान्य तरीके से भी घड़ों का व्युत्क्रम होने पर जिस-जिस घट के नीचे जो जो बल्ब रहेगा, उस-उसका प्रकाश उस घट के पोलार जितने घेरे में संकुचित एवं विकासशील बनता रहेगा। इस कल्पित रूपक से समग्र विश्व की समग्र आत्माओं के संकोच व विकासशील स्वरूप का विज्ञान किया जा सकता है। इन्द्रिय वृद्धि की दृष्टि से जीव का पाँच प्रकार का वर्गीकरण होता है। जिन्हे पाँच जाति कहा है। उन्हें आत्मा रूपी वल्बो के पाँच ढक्कन कहा जा सकेगा। इन शरीरो का जितना ऊँचा और मोटापन होगा, उतनी ही अवस्था में आत्मप्रदेश सकुचित एव विकसित होते रहेगे।

इन्द्रिय दृष्टि से पचेन्द्रिय विकास वाली जितनी भी आत्माएँ है, उनके अन्तर्गत नारकीयजीव, तिर्यच योनि में रहने वाली आत्माएँ, मनुष्य पर्यायगत आत्मा और देव पर्यायगत आत्माओं का समावेश होगा, इनके एव अन्य इन्द्रिय वाले जीवो के बहुत भेद प्रभेद है। यहा प्रस्तुत विपय से सम्वन्धित शरीर वाले चैतन्य देव का रूपी स्वरूप समझाने की दृष्टि से सक्षिप्त मे झलक मात्र प्रस्तुत की गई है।

प्रस्तुत प्रकरण मे पंचेन्द्रिय पर्यायान्तर्गत चार गतियो का निर्देश हुआ है। उनमे चारित्र सम्पन्नता के साथ आत्मा के निर्विकार चरम विकास का प्रावधान है—मनुष्य पर्याय मे रहने वाली संज्ञी पचेन्द्रिय आत्मा मे।

उनमे भी आर्य गुणों से सम्पन्न विशिष्टात्माओं का स्वरूप ही चरम छोर के विकास को छू सकना है, किन्तु वे भी सभी नही, विरलात्माएँ ही।

इस प्रकार की क्षमता नरक, तिर्यंच एवं देव गति मे रहने वाली पंचेन्द्रिय आत्माओ मे प्राप्त नही हो सकती। अतएव उनका प्रस्तुत प्रकरण मे मुख्यतया प्रतिपादन नही है। मुख्य प्रतिपादन तो आर्य संस्कारों आदि से सम्पन्न साधना मे प्रवेश पाने वाली मुमुक्षु साधकात्माओ का है।

कर्मो के विलय की प्रक्रिया समीक्षण

जब विशिष्ट मानव तन की पर्याय मे रहता हुआ चैतन्य देव स्वयं को निर्मल बनाने के लिए स्वयं के ही द्वारा सत् पुरुषार्थ पूर्वक समता साधना से आप्लावित होता हुआ ज्ञान शक्ति, दर्शन शक्ति, क्षायिक चारित्र रूप शक्ति एवं अनन्त वीर्य रूप शक्ति इन शक्तियो को आवृत करने वाले चतुष्कर्म-ज्ञानावर्णीय-परिपूर्ण ज्ञान शक्ति का आवरण करने वाला, दर्शनावर्णीय-दर्शनशक्ति को आच्छादित करने वाला, मोहनीय-आत्मा के क्षायिक भाव रूप यथाख्यात चारित्र को अवरुद्ध करने वाला, अनन्त वीर्य रूप शक्ति को ढकने वाला अन्तराय कर्म का विलय चैतन्य देव मानवीय पर्याय रूप शरीर मे रहता हुआ सर्वथा प्रकार से कर देता है, तव इस चैतन्य देव की उपर्युक्त चारों महाशक्तियां विकसित हो जाती है। उसी ज्ञान शक्ति से लोकालोक स्थित रूपी अरूपी तत्त्वों का भी साक्षात्कार हो जाता है। वैसे अष्ट कर्मो से विमुक्त चैतन्य ही चरम विकास से परिपूर्ण निरपेक्ष सुख एवं शान्ति के रूप में अवस्थित होते है। ऐसे आत्मा के अरूप स्वरूप को भी, अपने केवलालोक मे वह चैतन्य देव शरीर पिण्ड मे रहता हुआ स्पष्टतः इन्द्रियातीत ज्ञान से जान एवं देख लेता है।

ऐसे केवली भगवन्तो के आयु कर्म से अधिक स्थिति वाले अन्य तीन अघाती कर्म रहते है, तब केवली भगवान केवली समुद्घात कर स्वय के आत्मप्रदेशों को सम्पूर्ण लोकाकाश मे फैला देते है। उस समय आत्म-प्रदेशो का विकास चौदह रज्वात्मक लोक प्रमाण हो जाता है। यह अवस्था स्वल्प समय ही रहती है। पुनः जिस शरीर के परित्याग के पश्चात् मोक्ष जाने वाली होती है, उस शरीर प्रमाण मे व्याप्त हो जाती है।

मुक्ति में आकार

मोक्ष जाने के पूर्व सर्वथा कर्म रहित होने की अवस्था मे शरीर के दो तिहाई भाग की अवगाहना जितनी होती है उतनी अवगाहना में असंख्य आत्मप्रदेश घनीभूत हो जाते है। वह चैतन्य देव उसी घनीभूत

अवस्था से लोकान्त में सदा सर्वदा के लिये अवस्थित हो जाता है । उस अवस्था मे रहने वाली समग्रात्माएँ परिपूर्ण, परिशुद्ध एव परिपूर्ण चरम विकास सम्पन्न बन जाती है ।

इस प्रकार आत्मा के अविभाज्य असख्य प्रदेश होते हुए भी संकोच विकासशील सान्वय-परिणामी नित्य होते है । उन प्रदेशो को कोई भी शस्त्र छिन्न-भिन्न करने में समर्थ नही होते । आग जला नही सकती, पानी गला नही सकता । प्रलयंकारी पवन भी उड़ा नही सकता । ऐसे अकाट्य अछेद्य, अभेद्य, अखण्ड, अनन्त ज्ञानादि शक्तियों से सम्पन्न आत्मस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति के पूर्व यह चैतन्य विभिन्न शरीर पर्यायो को धारण करता हुआ चला आ रहा है ।

कर्म-फल-भोग में समभाव का समीक्षण

वीतराग देव के सिद्धान्तो का अनुशीलन करने के पश्चात् जब जब साधक को भलीभाँति यह ज्ञान हो जाता है कि—चैतन्य देव अज्ञानता वश आश्रव द्वारो का सेवन करता है तो उससे कर्मबन्धन होता है ।

जो कर्म बँध चुके है वे यदि निकाचित है तो समय पर ही उदय में आयेंगे एव फल देकर के ही हटेगे । किन्तु जो अनिकाचित है, वे समय आने पर तो अवश्य फल प्रदायी बनते ही है, पर सम्यक्ज्ञान पूर्वक साधना मे चलता हुआ साधक उन्हे उदीरणा के द्वारा अवधि के पूर्व ही उदय मे ला सकता है । यदि साधक फल भोग मे भी सम्यक्दृष्टि भाव के साथ समता के आलम्बन पूर्वक कर्मो का फल भोग करता है तो तज्जनित नवीन कर्म का बंध नही करता एव शनै. शनै पूर्व का फल भोग एवं नवीन बंधन हेतुओ का अवरोध हो जाने पर वह आत्म-शुद्धि मे अग्रसर बन सकता है ।

ऐसा साधक साधना के अनुशीलन के साथ ध्यान की प्रक्रिया मे प्रवेश करता है तो उसके लिये वीतराग देव द्वारा निर्दिष्ट चार ध्यानो का विज्ञान भी प्रारम्भ मे अपेक्षित होता है । उनमे जो दो ध्यान—आर्त्त व रौद्र ध्यान किन निमित्तो से पैदा होते है एव जीवन मे कैसे स्थान बनाते है, उन हेतुओ का भी वह विश्लेषण करें । उसका सूक्ष्मता से अवलोकन करने हेतु समीक्षण ध्यान का अवलम्बन ले । यथा—प्रिय का वियोग और अप्रिय का संयोग विशिष्ट ज्ञानी के अतिरिक्त कोई नही चाहता ।

जब ऐसा होता है तो प्रिय के वियोग को सहन न करने के कारण

व्यक्ति आर्त्त ध्यान में तन्मय होता है। इसी तरह अप्रिय के संयोग को दूर करने के लिये रात दिवस आर्त्त ध्यान में चिन्तित रहता है। इन दोनो अवस्थाओं में समीक्षण ध्यान का अभ्यास करने के लिये चिन्तन करे कि जिस शरीर पर्याय को लेकर उसके वियोग में मैं आर्त्त ध्यान कर रहा हूँ, उस आर्त्त ध्यान के निमित्त आत्मा कर्मबंधन करती है। उन कर्मो का भोग स्वयं को ही करना पड़ता है। ऐसी दशा में मैं आर्त्त ध्यान करूं ? मेरा इतना ही सयोग था। इसलिये इतने समय तक उनके साथ रहने का प्रसंग आया। यह संयोग स्थायी तो था नही, क्योंकि शरीर पिड अस्थायी है। यह कब विनष्ट हो जाय, कब चला जाय, इसका छद्मस्थ व्यक्ति को ज्ञान नही होता। पर इतना ज्ञान तो अवश्य रहता ही है कि जिसके साथ में प्रीति कर रहा हूँ उसका संयोग चाहता हूँ अथवा किसी का वियोग चाहता हूँ, यह दोनों अवस्थायें स्थूल शरीर से सम्वन्धित है।

इसी स्थूल शरीर मे चैतन्य देव रहा हुआ है। उस चैतन्य देव के लिये स्थूल शरीर भी एक प्रकार की पोषाक है। कपड़े की पोपाक जीर्ण-शीर्ण हो फट जाती है तो उस पोषाक से विलग होने मे किसी प्रकार का शोक, संताप नही होता, वल्कि एक प्रकार की प्रसन्नता ही होती है कि यह गई तो नई पोपाक का सौभाग्य प्राप्त होगा। वैसे ही स्थूल शरीर सम्बन्धी इष्ट के वियोग एवं अनिष्ट के संयोग को भी पोषाकवत् समझ कर मुझे समभाव का अवलम्बन लेना चाहिये।

चैतन्य अपना कर्ता स्वयं

चैतन्य देव अपने निजी स्वरूप को सही तरीके से पहचान लेता है तो उसके लिये स्वरूप का ध्यान ही मुख्य रहता है। उसका स्वरूप शरीर की तरह अथवा अन्य जड़ पुद्गल पिण्ड की तरह जीर्ण-शीर्ण अवस्था को प्राप्त होने वाला नहीं है। शरीर तो इस आत्मा द्वारा निर्मित किया गया है। अतः ज्ञानी आत्माओं के लिये यह खिलौने के तुल्य है। शरीर जीर्ण हो जाय, उस समय आत्मा चाहे तो इस शरीर से भी सुन्दर शरीर रूप खिलौना प्राप्त कर सकती है। वह खिलौना मनुष्य पर्याय की अवस्था मे प्राप्त करना चाहे तो वैसा एवं देव पर्याय के रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा हो तो वैसा भी प्राप्त कर सकता है। देव पर्याय रूप खिलौना भी प्राप्त करना इस चैतन्य देव के लिए हाथ की ही वात है, वशर्ते कि वह होश हवाश में रहे। यदि अधिक जागृति का प्रसंग उपस्थित करे तो

यथासमय सर्व कर्मो से विमुक्ति का प्रसंग भी आ सकता है। क्योकि चैतन्य देव तो अपनी मौलिक शक्त्यानुसार सदा सर्वदा परिपूर्ण स्वतन्त्र अवस्था से सम्पन्न है।

तीर्थकर देव प्रभु महावीर ने स्पष्ट फरमाया है कि—

"अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्त ममित्त य दुपट्ठियसुपट्ठिओ ।।"

आत्मा स्वय अपने सुख दु.ख का कर्ता है, वही स्वय का मित्र है और वही स्वय का शत्रु ।

इस प्रकार आत्मा के लिये स्पष्ट उद्बोधन है कि वह जैसा चाहे वैसा कर सकती है। यद्यपि निकाचित कर्म अपना पूर्ण प्रभुत्व जमाते है। अन्य अनिकाचित कर्म भी उदयावस्था मे आत्मा की विवेक शक्ति को मूच्छित करते रहते है फिर भी मूच्छित होना न होना पुरुष के ऊपर निर्भर है। यदि सावधानी नही बरती जाय, उदयजनित कर्म प्रकृतियो के प्रवाह मे प्रवाहित होता हुआ आत्म-देव मूच्छित बन जाय एव उदयजनित प्रभाव के परिणामस्वरूप तदनुरूप क्रियाकलापों को आसक्ति पूर्वक अपनाले तो वर्तमान मे विकसित शक्ति भी दब जाती है एवं सरिता के प्रवाह मे बहते हुए पदार्थ की तरह वह भी मोह विकारो की सरिता मे बहता हुआ निगोदादि पर्यायों को भी प्राप्त कर सकता है। फिर वहां से निकलना सहज नही होता। फिर यह चैतन्य कभी-कभी तो अनन्तकाल तक उस निगोद के घेरे में जन्म-मरण की शृंखला मे आबद्ध हो जाता है। यह अवस्था तो अनादिकाल से चली ही आ रही है। उसमे से निकलना अति दुष्वार है। किन्तु जिस पुरुष ने विवेक विज्ञान प्राप्त किया है वह पुरुष वर्तमान की मानव पर्याय का सदुपयोग करना सीख जाय एवं समग्र कर्मो के आवागमन सम्बन्धी द्वारों को सम्यक्ज्ञान पूर्वक सुदृढ व्रतो की पाल (बाध) से रोककर पूर्व मे सचित पाप को विनष्ट करने में विविध प्रकार की साधना का सबल लेकर चल पड़े एवं विविध प्रकार की बाह्य एवं आभ्यन्तर तप साधना को यथा शक्ति जीवन मे स्थान प्रदान करदे तो वह पूर्वकृत कर्मो को भी विलग करने मे सक्षम बन सकता है।

कर्म की अवधि आने पर तो उनका उदय के साथ निर्जरण यानी आत्मप्रदेश से अलग होने का प्रसंग तो है हो, पर अनिकाचित कर्मो को

भी उस अवस्था में रहते हुए ध्यान साधना से स्थिति घात, इस घातादि गुण श्रेणी आदि द्वारा उन कर्मो का उपभोग शीघ्र भी किया जा सकता है । किन्तु इसके लिये सार्वभौम अहिसादि महाव्रतों को सर्वतोभावेन शक्ति भर आचरण में लाने का सत्पुरुषार्थ आवश्यक है । सत्पुरुषार्थ के रूप में भावात्मक अहिसा सत्यादि निजी गुणों को अतीव सत्कार पूर्वक जीवन में स्थान देना आवश्यक हो जाता है । ऐसा किये विना नवीन कर्मो का बंधन रुक नही सकता । उसकी रुकावट किये बिना नवीन ध्यानादिक साधना कितनी भी क्यों न की जाय, उसका परिणाम गन्दे गटर के गन्दे पानी के आगमन को रोके विना जल की टकी को स्वच्छ बनाने जैसा होगा, अर्थात् कोई पुरुष गन्दे जल की टंकी को साफ करने के लिये भरसक पुरुषार्थ करता है, पर गन्दे गटर के पानी को विधिपूर्वक दृढता के साथ नही रोकता है तो वह गन्दे जल की टंकी त्रिकाल में भी स्वच्छ नही हो सकती । क्योकि वह एक तरफ सफाई करता है और दूसरी ओर गटर का गन्दा पानी पुनः आकर के उसमे गिरता है । जैसे वह टकी साफ नही हो सकती वैसे ही आत्म-रूप टंकी साफ नही हो सकती । अतएव ध्यान-साधना करने वाले साधकों को इस विषय मे समता भाव के साथ गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना आवश्यक है । आगम उल्लिखित धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान रूप दोनो शुभध्यान इसी समीक्षण ध्यान के ही तो पर्याय है ।

निष्कर्ष

समीक्षण ध्यान की यह प्रक्रिया अत्यन्त गम्भीर है । शरीर तंत्र एवं जीव विज्ञान सम्बन्धी उपर्युक्त जानकारी के अभाव मे इसकी गहराई में नही पहुँचा जा सकता । अतएव ध्यान की विधि-विवेचना मे सम्बन्धित अवान्तर विषयों का विश्लेषण किया गया है ।

